ओ३म्

# सांख्य दर्शनम्

## भाषा भाष्य सहित



प्रकाशक

बैनीराम बुकसेलर आर्य पुस्तक भवन
माईथान आगरा

मूल्य १)

॥ ओ३म् ॥

समस्त वैदिक धर्म सम्बन्धी पुस्तकें मिलने का पता—

"शर्मा आर्य पुस्तकालय सम्भल, यू० पी०"

# षड् दर्शन सम्पत्तिः

तत्र द्वितीय

# सांख्य दर्शनम्

## पदक्रम भाषा-भाष्य सहित


ले०—सिद्धान्त वाचस्पति

श्री० पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित "चन्द्र

सभापति निखिल भारतवर्षीय विद्वत्परिषद् आगरा

तथा

मैनेजर श्रीभगवानदीन आर्य भास्कर प्रेस आगरा





प्रकाशक—

महाशय बैनीराम बुकसेलर

आर्य पुस्तक भवन, माईथान आगरा।

...रा पता—देव पुस्तकालय दरेशी नं० २, आगरा




...थम संस्करण ] सम्वत् १९९५ वि० [ मूल्य १॥)

दर्शन शास्त्रों के अनुशीलन-कर्त्ता जानते हैं कि इस सांख्य-शास्त्र में प्रकृति पुरुष के तत्व का निरूपण किया गया है और त्रिगुणात्मक प्रकृति की फांस से मुक्त होने के लिये जो प्रकार इस शास्त्र में आये हैं वह सर्वत्र नहीं। यह महर्षि कपिल कृत शास्त्र है जो निस्सन्देह श्वेताश्वर उपनिषद् के अनुसार आदि सृष्टि में ज्ञान से भरे हुये जन्मे थे अत. यह अति प्राचीन दर्शन है। कोई-कोई कपिल को अनीश्वरवादी कहते हैं परन्तु यह सर्वथा भ्रमसूलक है जो दर्शन के अध्ययन से पदे-पदे स्पष्ट हो जाता है। सांख्य सर्वथा ईश्वरवादी आस्तिक दर्शन है प्रमाण यह है कि 'पुरुष बहुत्वं व्यवस्थात:' सां० ६। ४५ में यह बतलाया है कि व्यवस्था पाये जाने से पुरुष बहुत हैं अर्थात् पाप-पुण्य की व्यवस्था पुरुष के बहुत मानने से ही बन सकती है अन्यथा नहीं। क्या कोई अब भी सांख्य को अनीश्वरवादी दर्शन कहने का साहस कर सकता है इसी प्रकार "ईश्वरासिद्धे:" सूत्र की पूर्वा पर संगति बिना मिलाये अध्ययन-कर्त्ताओं ने अँधेरे में टटोला है। श्री शंकर और श्री रामानुज दोनों सांख्य का खण्डन करते हैं क्योंकि यह दोनों आचार्य ब्रह्म को ही प्रकृति मानकर उसे उपादान कारण मानते हैं सो सांख्य-शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है। सांख्य भूतों की चेतनता का बलपूर्वक खण्डन करता हुआ पाप-पुण्य की

व्यवस्था का खण्डन करके बलपूर्वक कहता है कि आत्म-प्रत्यय में संयम करने से यह ज्ञान होता है कि बुद्धि सत्व का [illegible] नष्ट हो जाने से ही पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न मानता है और प्रकृति का गुणाधिकार समाप्त हो जाने पर आत्म-शक्ति बढ़ना प्रेम और समीचीन है। ईश्वर विषय में [illegible] ध्यानादि कार्यों का अनुष्ठान मानता है। यदि ईश्वर नहीं [illegible] जाता तो ध्यान किसका? इन्द्र विरोचन की कथा से तत्व ज्ञान प्राप्ति को मानकर है। शुभ कर्मों के फलों को मानना और वेद का प्रमाण मानना ईश्वरवादी होने का प्रमाण है और वेदों के प्रमाण से ईश्वरीय ज्ञान वेद हैं ऐसा कहा है। अतः यह आस्तिक-दर्शन है। जीव और प्रकृति से ईश्वर को भिन्न माना है जिसकी सिद्धि जगत् रचना से है। अतः यह स्वाध्याय योग्य मुमुक्षु दर्शन है। और प्राचीन तत्व विद्या का आलोक है।

—ब्रह्मानन्द सरस्वती,

आगरा।

परम श्रद्धेय ज्येष्ठ पितृव्य श्री पं० बन्दीदीन जी दीक्षित मैं अपनी मुग्धावस्था के कारण आपकी धर्मपत्नी श्री दुलारी देवी जी के आनन्द अङ्क में लालन पालन पा रहा था। बोधावस्था मेरी प्राप्त होने से पूर्व आपका शरीर अवसान होगया। आज उसी दिवंगत आत्मा के चिरस्मृति में यह त्रैत्तवाद (सांख्य) श्रद्धांजलि-पूर्वक अर्पण कर अपने को कृत्-कृत्य मान रहा हूं।

गोकुलचन्द्र दीक्षित।

परम श्रद्धेय ज्येष्ठ पितृव्य श्री पं० बन्दीदीन जी दीक्षित मैं अपनी मुग्धावस्था के कारण आपकी धर्मपत्नी श्री दुलारी देवी जी के आनन्द अङ्क में लालन पालन पा रहा था। बोधावस्था मेरी प्राप्त होने से पूर्व आपका शरीर अवसान होगया। आज उसी दिवंगत आत्मा के चिरस्मृति में यह त्रैतवाद (सांख्य) श्रद्धांजलि-पूर्वक अर्पण कर अपने को कृत्-कृत्य मान रहा हूं।

गोकुलचन्द्र दीक्षित।

# अथ सांख्य दर्शनम्

प्रणम्य परमात्मानं गिरानन्दं चसद्गुरुम् ।
त्रैतवाद स्सुबोधाय, सांख्य भाषा विरच्यते ॥

## अथत्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः ॥१

प० क्र०—(अथ) शास्त्र में (त्रिविध दुःखात्यन्त निवृतिः) तीनों दुःखों के निःशेष को (अत्यन्त पुरुषार्थः) परम पुरुषार्थ कहते हैं।

भा०—संसार के दुःखों को तीन भागों में बाँटा गया है। पहिला आध्यात्मिक जो काम, क्रोध ज्वरादि लोभ मोह और ईर्षा का भय दूसरा आधिभौतिक जिसमें चोर व्याघ्र हिंसक प्राणियों का भय और तीसरा आधि दैविक जिसमें जल, वायु, अग्नि और बिजली का भय होता है इन दुःखों की कल्पपर्यन्त निवृत्ति का नाम पुरुषार्थ है अर्थात् पुरुष का अर्थ मोक्ष प्राप्त करना है।

सं०—यदि इन दुःखों की निवृत्ति औसधोपचार द्वारा हो सके तो विवेक ज्ञान सम्पादन क्यों करें!

न [illegible] ॥२

प० क्र०—( दृष्टात् ) औषधोपचार से ( तत्सिद्धिः ) दुःख निवृत्ति सिद्धि (न) नहीं (निवृत्ते, अपि) उपायों से दूर हुये दुःख ( अनुवृत्ति दर्शनात् ) कालान्तर में फिर हो जाते हैं।

भा०—अत्यन्त निवृत्त दुःख का पुनर्जन्म नहीं होता परन्तु जो औषधि आदि उपायों से दूर हुये हैं वह फिर उत्पन्न होते देखे जाते हैं इसलिये केवल विवेक ही पूर्ण निवृत्ति हेतुक है अन्य नहीं।

सं०—यदि औषधि आदि से अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती तो उस से दूर करने की इच्छा क्यों पाई जाती है ?

## प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकार चेष्टनात्पुरुषार्थत्वम् ॥२॥

प० क्र०—( प्रात्यहिक क्षुत्प्रतीकार ( वत् ) प्रति दिन क्षुधा की निवृत्ति भोजन द्वारा होती है वैसे ही (तत्प्रतीकार) ( चेष्टनात् ) उन दुःखों की निवृत्ति होती है अतः ( पुरुषार्थत्वम् ) औषधि आदि की इच्छा पुरुष को होती है।

भा०—क्षुधा निवृत्ति के लिये भोजन उपाय है उसी प्रकार औषधि आदि उपाय से दुःख की निवृत्ति होती है इसीलिये पुरुष को उसकी इच्छा होती है।

सं० —औषधि से यदि लाभ हो जाता है तो वह उपाय विवेकी को क्यों त्याज्य है ?

## सर्वा सम्भवात् सम्भवेऽपि सत्वा संभवाद्धेयः प्रमाण कुशलैः ॥४॥

प० क्र०—( सर्वा संभवात् ) सर्व दुःखों की औषधि से निवृत्ति नहीं तथा (संभवे, अपि) कुछ सम्भव होने पर भी ( सता सम्भवात् ) सूक्ष्म रूप से रहते ही हैं अतः (प्रमाण कुशलैः) ज्ञानियों को (हेयः) वह त्याज्य है।

भा०—यतः सम्पूर्ण दुःख औषधि उपायों से दूर नहीं हो सकते यदि दैवात् हो भी जावें तो निःशेष नहीं होते क्योंकि निवृत्ति पदार्थ पुनः जन्म नहीं लेता और इसीलिये विवेकी जन के लिये वह पूर्वोक्त उपचार त्याज्य हैं।

सं०—यह लौकिक औषधियाँ त्याज्य हैं इसमें हेतुः

## उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्थ श्रुतेः ॥५॥

प०क्र०—(उत्कर्षादपि मोक्षस्य) पूर्ण पुरुषार्थ की (उत्कर्षात्) विवेक ज्ञान से (अपि) भी (सर्वोत्कर्ष श्रुतेः) सर्व श्रेष्ठ हैं।

भा०—लौकिक उपायों द्वारा दुःख की निवृत्ति अधिक ठहरने वाली नहीं होती परन्तु विवेक ज्ञान से दुःखों की हुई निवृत्ति टिकाऊ होती है अतः लौकिक उपाय छोड़ देने चाहिले।

शं०—यदि लौकिक उपायों से दुःख निवृत्ति न हो तो वेदोक्त कर्मों से हो जावेगा तब विवेक ज्ञान अनावश्यक है।

**अविशेषश्चोभयोः ॥६॥**

प० क०—(उभयोः) लौकिक विधि तथा वेदोक्त कर्म दोनों (च) ही (अविशेषः) एकसे हैं।

भा०—जैसे औषधि आदि उपायों से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती उसी प्रकार वेद सम्मत यज्ञादि से भी नहीं हो सकती क्योंकि इनसे अविवेक जो दुःख-मूलक है वह नहीं दूर होता।

शं०—तब विवेक ज्ञानोपाय किस प्रकार सम्पादन करना ठीक है।

**न स्वभावतोवद्धस्य मोक्षसाधनोप देशविधिः ॥७**

प० क०—(स्वभावतः) स्वभाव से (वद्धस्य) दुःख सम्बन्धी पुरुष (मोक्ष साधनोपदेश विधिः) मोक्ष साधनों का अनुष्ठान (न) नहीं कर सकता।

भा०—तीनों दुःख सम्बन्ध को 'बन्ध' कहते हैं जो यदि यह स्वाभाविक हो तो विवेक ज्ञान के अनुष्ठान में इस पुरुष की इच्छा ही नहीं होगी। दूसरे बन्ध स्वाभाविक हो तो विवेक ज्ञान से निवृत्त भी कैसा होगा क्योंकि स्वाभाविक वस्तु हट नहीं सकती। अतः बन्ध स्वाभाविक नहीं है।

सं०—यदि शास्त्रोक्त अनुष्ठान न किये जावें तो हानि ही क्या है ?

**स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठान लक्षणमप्रामाण्यम् ॥८॥**

प० क्र०—(स्वभावस्य) स्वाभाविक पथार्थ की (अनयायित्वात्) निवृत्ति असम्भव होने से (अननुष्ठान लक्षणम्) निवृत्ति बोधक शास्त्र (अप्रामाण्यम्) प्रमाण नहीं माना जाता।

भा०—जिसका फल मिले वही अनुष्ठान किया जाता है जिसका फल नहीं उसका अनुष्ठान कैसा न उस शास्त्र को मानना है कि जिसमें ऐसी अनुष्ठान विधि हो। इस कारण बन्ध स्वाभाविक नहीं है।

सं०—यदि शास्त्र-बल पर अनुष्ठान हो सके तो उस दशा में तो वह अप्रमाण न होंगे ?

**नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥९॥**

प० क्र०—(अशक्योपदेश विधिः) निष्फल कर्म अनुष्ठान (न) शास्त्र-बल पर भी असम्भव है क्योंकि (उपदिष्टे अपि) वह शास्त्रोपदेश (अनुपदेशः) यथार्थ में उपदेशाभास है यथार्थ नहीं।

भा०—जब स्वाभाविक वस्तु कभी भी दूर नहीं की जा सकती तो

[illegible] भी वृथा है अतः [illegible]

[illegible] नहीं किया जा सकता।

सं०—बन्ध को स्वाभाविक मान लेने पर उसकी निवृत्ति हो सकती है.

## शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ॥१०॥

प० क्र०—(शुक्लपटवत्) श्वेत वस्त्र की भांति (च) और (बीजवत्) बीज की अंकुर जनन स्वाभाविक शक्ति (चेत्) यदि कहा तो ठीक नहीं।

भा०—देखा जाता है कि श्वेत वस्त्र का स्वाभाविक शुक्ल धर्म रंग से तथा बीज का अग्नि से निवृत्ति हो जाता है अतः जीवका स्वाभाविक धर्म बन्ध मान लेने में कोई दोष नहीं।

सं०—यह सब भ्रान्तियाँ इस प्रकार दूर हो सकती हैं कि:—

## शक्त्युद्भवाद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥११

प० क्र०—(अ शक्योपदेशः) स्वाभाविक वस्तु की निवृत्ति (न) नहीं, क्योंकि (शक्तयुद्भवानुद्भवाभ्यां) शुक्ल एवं अंकुर जनन शक्ति की निवृत्ति नहीं किन्तु तिरोभाव है।

भा०—वस्त्र में श्वेतपन और बीज में प्रजनन शक्ति का तिरोभाव मात्र है न कि निवृत्ति। यदि निवृत्ति होती तो क्षार आदि के संयोग से शुक्लता और अंकुर-जनन शक्ति की पुनः उत्पत्ति न होनी चाहिये क्योंकि जिसको निवृत्ति है उसकी पुनः उत्पत्ति नहीं। अतः बन्ध स्वाभाविक नहीं।

सं०—यदि स्वभाव से पुरुष बद्ध नहीं तो दिशा और काल से होगा।

## नकालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् १२

प० क०—(काल योगतः) काल-सम्बन्ध से (न नहीं (नित्यस्य) नित्य तथा व्यापिनः) सर्वत्र परिपूर्ण होने से (सर्व-सम्बन्धात्) मुक्त और बद्ध सब के साथ समान सम्बन्ध है।

भा०—यदि ऐसा हो कि काल की अचिन्त्य शक्ति है उसके योग से छहों ऋतु के समान पुरुष को बन्ध होता है तो यह कथन ठीक नहीं बनता क्योंकि फिर तो किसी की भी मुक्ति ही नहीं हो सकती इसलिये कि काल को वक्ता ने व्यापक माना है इसलिये उसका सब पुरुषोंसे समान सम्बन्ध रहेगा और काल को नित्य मानने से वह नित्य भी होगा।

सं०—दिशा से भी बन्ध होने का निषेध करते हैं।

## नदेशयोगतोऽप्यस्मात् ॥१३॥

प० क०—(देश योगतः) दिशा सम्बन्ध से (अपि) भी (न) नहीं क्योंकि (अस्मात्) कायक तथा नित्य होने से उसका सब पुरुषों से समान सम्बन्ध है।

भा०—यदि जैसे काल की अचिन्त्य शक्ति के समान दिशा का भी पुरुष बन्ध कारण स्वीकार किया जावे तो दिशा

के नित्य और व्यापक होने से उसका सब पुरुषों से समान सम्बंन्ध होने से वन्ध सम्भव नहीं ।

मं०—क्या अवस्था से भी पुरुष वन्ध नहीं होता ।

नावस्थातो देहधर्मत्वात्तस्याः ॥१४॥

प० क्र०—( अवस्थातः ) शरीर की बाल, कौमार और तरुण आदि दशा से भी ( न ) वन्ध नहीं क्योंकि ( तस्याः ) यह दशायें ( देह धर्मत्वात् ) देह धर्म है ।

भा०—शरीर की चार अवस्था के समान क्या पुरुष को वन्ध नहीं इस भ्रम पूर्ण भावना का समाधान यह है कि यह पुरुष की अवस्था में नहीं किन्तु देह के धर्म हैं इसलिए इससे भी पुरुष वन्ध नहीं होता ।

मं०—यह अवस्थायें ही यदि पुरुष-धर्म मान ली जायें तो—

असंगोऽयं पुरुष इति ॥१५॥

प० क्र०—( अयं ) यह ( पुरुषः ) पुरुष ( असङ्गः ) समरस नित्य है ( इति ) अतः अवस्था भी पुरुष धर्म नहीं हो सकती ।

भा०—यदि अवस्था ही को पुरुष धर्म माना जाता है तो उस पुरुष के स्वरूप और धर्म में कभी परिणाम युक्त न होने से सम्भव नहीं । जो परिवर्त्तन परिणाम है वह शरीर में है स्वरूप धर्म में नहीं अतः अवस्था पुरुष धर्म नहीं ।

सं०—तथा शुभाशुभ कर्मों से भी पुरुप बन्ध नहीं।

## नकर्मणाऽन्यधर्मत्वादति प्रसक्तेश्च ॥१६॥

प० क०—( कर्मणा ) भले बुरे कर्मों से ( न ) नहीं क्योंकि ( अन्य धर्म त्वात ) पुरुष धर्म नहीं ( अति प्रसक्तेः ) अन्य के धर्म से अन्य का बन्धन से मुक्त को भी बन्ध मानना होगा।

भा०—बुद्धि आदि संघात् के धर्म भले बुरे कर्म हैं न कि पुरुष के वह पुरुष चेतन होने से निष्क्रिय है इसलिए भी कर्म का बन्धन नहीं। यदि अन्य धर्म से अन्य का बन्धन माना जावे तो कोई मुक्त ही न होगा और बद्ध जीवों के कर्मों से मुक्त-बन्ध हो सकेगा अतः ऐसा नहीं।

सं०—शुभाशुभ कर्मों से अन्य के बन्ध में दोष भी है।

## विचित्र भोगानुपपत्तिरन्य धर्मत्वे ॥१७॥

प० क०—( अन्यधर्मत्वे ) एक के कर्म से दूसरे को भोग मिलना ( विचित्र भोगानुपपत्तिः ) जीवों की सुख दुखादि विलक्षणता नहीं होगी।

भा०—संसार में कोई सुखी कोई दुखी यह विचित्र भोग रचना पाये जाने से यदि अन्य के किये कर्म कोई दूसरा भोगे तो विचित्रता ही क्या रही क्यों कि यदि ऐसा ही माना जाता है तो सब सुखी ही सुखी व दुखी ही

दुखी रहने चाहिये [illegible] इस के विपरीत होने से कर्म से भी बन्ध नहीं माननी चाहिये ।

सं०—क्या प्रकृति सम्बन्धेन भीपुरूप वन्ध नहीं

**प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्नतस्याऽपि पारतन्त्र्यम् ॥१८**

प० क्र०—( चेत् ) यदि कहो (प्रकृति निवन्धनात् ) प्रकृति संयोग से पुरूप को वन्ध है तो (न) ठीकनहीं क्यों कि (तस्याः) प्रकृति (अपि) भी तो ( पारतन्त्र्यम् ) पुरूष वन्ध में अवि वेक के आधीन है ।

भा०—प्रकृति व्यापक हैइस लिये उस का सव जीवों के साथ चाहे वह वद्धहों या मुक्त समान सम्वन्ध रहेगा इस लिये वन्ध मुक्त की भी व्यवस्था नहीं वन सकेगी अतः जो पुरूष की वद्धावस्था है वह अविवेक के कारण है स्वतः नहीं इस लिये केवल प्रकृति ही वन्ध का कारण नहीं ।

सं०—यदि स्वभाव से वन्ध नहीं तो फिर किससे है ।

**ननित्यशुद्धवुद्धमुक्त स्वभावस्य**
**तद्योगस्तद्योगादृते ॥१९॥**

प०क्र०—(नित्य शुद्ध वुद्ध मुक्त स्वभाव .........) नित्य पवित्र ज्ञानी एवं मुक्त स्वभाव वाले जीवको ( तद्योगः ) वन्ध (तद्योगात्ऋते, नः) अविवेक से ही होती है ।

भा०— दुख सम्बन्ध रूप वन्ध प्रकति का धर्म है और प्रकृति पुरूप का अनादि अविवेक कृत उसी रूपाकृति हो

जाना सम्बन्ध है इस सम्बन्ध से पुरुष में बन्ध है अर्थात् पुरुष को जो बन्ध होती है उस में स्वभाव कारण नहीं किन्तु अविवेक है।

सं०—अविद्या से पुरुष के बन्ध का सम्बन्ध नहीं।

## नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धा योगात् ॥ २० ॥

प० क्र०—(अविद्यात.) अविद्या से (अपि) भी (न) बन्ध नहीं क्योंकि (अवस्तुना) अवस्तु होने से (बन्धा योगात्) बन्ध सम्भव नहीं।

भा०—अविद्या कोई वस्तु ही नहीं ऐसा मानने से अवस्तु से बन्धन कैसा! परन्तु अविद्या को भाव रूप वस्तु मान लेने पर तो वही अविवेक से बन्ध मानना पड़ेगा।

सं०—जो है उसे न मानना कहाँ तक उचित है?

## वस्तुत्वे सिद्धान्त हानिः ॥ २१ ॥

प० क्र०—(वस्तुत्वे) अविद्या को वस्तु मानने पर (सिद्धान्त हानिः) सिद्धान्त हानि होगी।

भा०—क्षणिक विज्ञान को पदार्थ मानने से उसकी अवस्तु भूत अविद्या से बन्ध मानने से अविद्या एक वस्तु हो जावेगी जो क्षणिक विज्ञान में मानी नहीं जा सकती अतः अविद्या कोई वस्तु ही होना सम्भव नहीं।

सं०—अविद्या को वस्तु मानने में दोष भी है।

## विजातीय द्वैतापत्तिश्च ॥ २२ ॥

प० क०—(च) और ('विजातीयद्वैतापत्तिः) विजातीय द्वैत का होना भी।

भा० जब क्षणिक विज्ञान एक अद्वितीय पदार्थ मान लिया तो उस से विजातीय वस्तु अविद्या यदि मानी जावे तो अद्वैत नहीं रह सकता प्रत्युत विजातीय अविद्या से द्वैतवाद उपस्थित होगा अतः अविद्या वस्तु नहीं।

सं०—यदि इन्हें विलक्षण माना जावे तो ?

## विरुद्धो भय रूपाचेत् ॥ २३ ॥

प० क०—( चेत् ) यदि ( विरुद्धो भय रूपा ) अविद्या को वस्तु अवस्तु दोनों रूपों वाली ऐसी विलक्षण अविद्या माने तो क्या ठीक है।

भा०—भाव यह है कि विद्या वस्तु अवस्तु दोनों नहीं किन्तु वह दोनों से विलक्षण कथन में न आने योग्य हैं इसलिये विजातीय और द्वैतपन का आरोप नहीं लग सकेगा।

सं०—इस विजातीय और द्वैत सिद्धान्त पर समाधान यह है।

## न तादृक्पदार्था प्रतीतेः ॥ २४ ॥

प० क०—(न) नहीं क्योंकि (तादृक् पदार्था प्रतीतेः) ऐसा पदार्थ संसार में है ही नहीं।

भा०—संसार में दो प्रकार के पदार्थ मिलते हैं एक भाव पदार्थ और दूसरे तुच्छ अथवा अलीक इन से विलक्षण

समुदाय रूप कोई पदार्थ नहीं पाया जाता अतः अविद्या वस्तु अवस्तु से विलक्षण मानना ठीक नहीं।

सं०—पदार्थों की सीमा नहीं माननी चाहिये।

## नवयं षट् पदार्थ वादिनो वैशेषिका दिवत् ॥२५॥

प० क्र०—( वयम् ) हम ( वैशेषिकादिवत् ) कणाद और गौतम की भांति ( षट् पदार्थ वादिनः ) छः अथवा सोलह पदार्थ मानने वाले नहीं।

भा०—द्रव्य तथा प्रमाणादि भेद से पदार्थ छः अथवा सोलह हैं इस प्रकार पदार्थ नियत हो जाते हैं परन्तु लोक में वस्तु अवस्तु रूप अथवा उस से भी विलक्षण कोई पदार्थ नहीं होने से इस प्रकार की अविद्या का न मानना ही ठीक है।

सं०—विलक्षण वस्तु अर्थात् कथन में न आ सकने योग मानने में जो भ्रम है उसका यह समाधान है।

## अनियतत्वे ऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहो ऽन्यथाबालोन्मत्तादिसमत्वम् ॥ २६ ॥

प० क्र०—( अनियतत्वे, अपि, ) पदार्थों का नियम भी न माना जावे तौ भी (अयौक्तिक संग्रहः) युक्ति हित पदार्थ को कौन बुद्धिमान ( न ) नहीं ( मान सकता ) क्योंकि (अन्यथा) ऐसा पदार्थ का मानने वाला (बालोन्मत्तादि

समत्वम् ) बालक और उन्मत्त के समान माना जावेगा ।

भा०—जो [illegible] में हो और युक्ति सिद्ध प्रसिद्ध भी हो बुद्धिमान उसे ही पदार्थ मानेगा यदि इस से विरुद्ध होगा तो वह बालक का वचन अथवा उनमत्त के प्रलाप समान होगा । अविद्या लोक में कोई प्रसिद्ध पदार्थ नहीं न युक्ति सिद्ध ही है क्योंकि वह वस्तु से विलक्षण और अवस्तु से भी विलक्षण अतः उभय समुदाय रूप कोई वस्तु नहीं है अतएव चाहे पदार्थ नियम न भी माना जावे तो भी अविद्या का मानना ठीक नहीं ।

सं०—क्या अनादि वासना पुरुष बन्ध का कारण है ।

## नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ॥ २७ ॥

प० क्र०—(अस्य) इस (पुरुष) को (अनादि विषयोपराग निमित्ततः) अनादि विषयों की वासना से (अपि) भी (न) बन्ध नहीं है ।

भा०—यदि ऐसा कहा जावे कि पुरुष को अनादि विषय वासना से विषयाकारता का मिलना ही बन्ध है परन्तु यह इस लिये ठीक नहीं कि विषयोंके अनुभव से अनुभवता पुरुष में वासना उत्पन्न होगी परन्तु अनुभव का करता यदि विज्ञान माना जावे तो वह अनुभव से उत्पन्न वासना का आधार नहीं बन सकता क्योंकि

उसके अनुभव में क्षण क्षण प्रलय होती है अतः विषय-वासना बन्ध हेतु नहीं है।

सं०—इसमें यह दोष भी है।

**न बाह्याभ्यान्तरयोरुपरंज्योपरंजकभावोऽपि देश-व्यवधानात् स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥ २८॥**

प० क्र०—(स्रुघ्नस्थ पाटलिपुत्रस्थयोः) आगरा और पटना में स्थित बिल्लौर और पुष्पराग मणि का जैसे परस्पर अपरंज कोपरंजक भाव (एक दूसरे में प्रतिच्छाया) एवं (बाह्याभ्यान्तरयोः) विषय और विज्ञान का (अपि) भी (उपरंजकोपरंजक भावः) परस्पर प्रतिविम्ब भाव नहीं हो सकता क्योंकि (देश व्यवधानात्) विषय और विज्ञान में शरीर-देश का अन्तर है।

भा०—व्यसना जिसका नाम है वह विषयों के अनुभव से विज्ञानात्मा पर प्रतिविम्ब पड़ने से उत्पन्न होती है परन्तु विम्ब प्रतिविम्ब भाव नहीं सम्भव है कि जहाँ दो देशों में व्यवधान (अन्तर) न हो इसी नियम से यदि एक वस्तु आगरे में हो और दूसरी पटने में तो प्रतिविम्ब देशी दूरी व्यवधान से पड़ना असम्भव है। एवं विषयों का विज्ञान में भी प्रतिच्छाया पड़नी असम्भव है क्योंकि विषय शरीर से बाहर और विज्ञान शरीर के भीतर होने से शरीर का व्यवधान है। परन्तु वही यदि चक्षुषेन्द्रिय आदि के द्वारा

[illegible] है तो व्यवधान रहित सम्बन्ध हो,जाने से जो गोलक से अतिरिक्त इन्द्रियों की सत्ता नहीं मानते और गोलकों को विषय समान भीतर नहीं मानते किन्तु बाहर मानते हैं अतः विषय-वासना से पुरुष बन्ध मानना ठीक नहीं ।

सं०—जो विज्ञानात्मा पुरुष को बाहर भीतर समरस परिपूर्ण मानते हैं क्या यह दोष उनके मानने में नहीं आता ?

## द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्नव्यवस्था ॥ २९ ॥

प० क्र०-(द्वयोः) बद्ध और मुक्त ( एक देशलब्धो परागात् ) बाहर भीतर परिपूर्ण तथा विषयों से समान सम्बन्ध-वान होने से, (व्यवस्था) बन्ध मोक्ष का क्रम ही (न) नहीं रहता ।

भा०—विज्ञान बाहर भीतर परिपूर्ण मानने से जैसा बद्ध पुरुष का विज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है उसी प्रकार मुक्त का भी सम्बन्ध होगा क्योंकि विषय सम्बन्धी दोनों की वासना का समान लगाव है इस प्रकार बन्ध-मोक्ष व्यवस्था कुछ नहीं रहेगी अतः वासना भी बन्ध का कारण नहीं ।

सं०—इसमें सन्देह रहता है क्योंकि—

## अदृष्टवशाच्चेति ॥३०॥

प० क्र०-(चेत) यदि ( अदृष्टवशात् ) अदृष्ट से व्यवस्था मानली जावे तो ठीक नहीं ।

भा०—केवल विषय-सम्बन्ध-मात्र से विज्ञानात्मा में उसकी वासना नहीं रहती किन्तु जिस विज्ञानात्मा में उसके अदृष्ट है उसी में उनकी वासना रहेगी अन्य में नहीं। और मुक्तात्माओं में ज्ञानबल से अदृष्ट नष्ट हो जाते हैं उनको वासना का ह्रास हो जाता है अतः वासना-हीन होने से वन्ध मोक्ष-क्रम ही टूट जाता है अतः विषय-वासना वन्ध का कारण है।

सं०—इसमें अभी निर्णय न होने से फिर समाधान आवश्यक है।

**न द्वयोरेककालायोगादुपकार्य्योपकारकभावः॥२१**

प० क्र०—(उपकार्योपकारकभावः) अदृष्टों से भी वन्ध व्यवस्था (न) नहीं क्योंकि (द्वयोः) अदृष्ट का कर्त्ता तथा भोक्ता दोनों ( एका काला योगात् ) एक समय में विद्यमान नहीं।

भा०—जिस विज्ञानात्मा के जो कर्म हैं उसी को उस कर्मवासना से वन्ध हाता है दूसरे को नहीं परन्तु यह तभी संभव है कि जब एक ही विज्ञानात्मा दृष्ट तथा वासना का आश्रय हो परन्तु जहाँ विज्ञानात्मा पुरुष बुरे भले कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट का आधार है और वह क्षणिक परिवर्त्तनशील होने से एक से दूसरे की वासना वन्ध का कारण नहीं हो सकती इसलिये कि दोनों एक समान काल में नहीं हैं।

सं०—यह प्रश्न और स्पष्ट होना चाहिये।

## पुत्रकर्मवदिति चेत् ॥ ३२ ॥

प० क०—( पुत्रकर्मवत् ) गर्भाधान संस्कार की भांति अन्य का कर्म अन्य को फल देता है ( चेत् ) यदि (इति) ऐसा माने तो ठीक नहीं।

भा०—पिता के द्वारा किया हुआ गर्भाधान संस्कार उस गर्भस्थ बालक को पहुंचता है उसी प्रकार एक विज्ञान के कर्म से अन्य विज्ञान को विषय-वासना का सम्बन्ध होना संभव है इस विषय-वासना से बन्ध होना अव्यवस्था नहीं।

सं०—यदि अव्यवस्था नहीं तो इसी का समाधान करते हैं।

## नअस्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥ ३३ ॥

प० क०—(न) यह उदाहरण अनुपयुक्त है क्योंकि (तत्र) जहां की यह बात है (यः) जिस जीव का (गर्भाधानादिना) गर्भाधान इत्यादि कर्म से (संस्क्रियते) संस्कार होता है वह ( स्थिरः ) स्थिर तथा ( एकात्मा ) एक ( हि ) निश्चय से (अस्ति) है।

भा०—गर्भाधान संस्कार जिसका किया जाता है और जो करता है वह दोनों वेदों के मानने वालों में स्थिर है अतः उनका समान कालिक होने से उपकार्योपकारक भाव बनता है परन्तु जहां कर्म का आश्रय विज्ञान एवं

वासना है वे दोनों अस्थिर हैं अतः एक के कर्म से दूसरे को वासना सम्बन्ध नहीं बनता उक्त दशा में अव्यवस्था ही रहेगी।

सं०—यहां पर यह प्रश्न है कि:—

## स्थिरकार्य्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥ ३४ ॥

प० क्र०—( स्थिरकार्यासिद्धेः ) सब पदार्थ अस्थिर हैं तथा ( क्षणिकत्वम् ) क्षणमात्र रहने वाले हैं।

भा०—जो सत् पदार्थ हैं वह क्षणिक हैं जैसे दीपक की लौ में क्षणिकत्व के युक्त सत्व की व्याप्ति होती है अतः जगत के समस्त पदार्थ भी सत् है अतएव क्षणिक हो गये।

सं०—इसका समाधान यह है कि:—

## न प्रत्यभिज्ञावाधात् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—( न ) यह नियम नहीं क्योंकि ( प्रत्यभिज्ञावाधात् ) प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक होने से।

भा०—जिस पदार्थ का अनुभव किया है उस प्रत्यक्ष ज्ञान से यह प्रतीत होती है कि सत्व से जगत के सम्पूर्ण पदार्थों में क्षणिकत्व प्रमाणित है परन्तु उनमें सत्व के होने पर क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं पाई जाती। क्योंकि यह निश्चय प्रत्यभिज्ञा कि यही घट है यही पट है उसके अभाव का प्रमाण है। यदि यह क्षणिक हो तो यह

प्रत्यक्ष ज्ञान इस प्रकार न [illegible] अतः सिद्ध हुआ कि सत्व हेतु क्षणिकत्व का समर्थक नहीं। अतः संसार के सब पदार्थ क्षणिक नहीं हो सकते।

सं०—इस पक्ष में जो दोष है वह यह है।

## श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥३६॥

प० क्र०—( च ) तथा ( श्रुति न्याय विरोधात् ) श्रुति तथा न्याय से भी असम्मत है।

भा०—असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता इन श्रुतियों तथा श्रौत-न्याय में विरोध आता है। जब कि उत्पत्ति से पूर्व सत् कहने से सब पदार्थों का वर्त्तमान एवं भविष्यत में भी सत् ही रहेगा तो यदि क्षणिक होते श्रुति तथा न्याय में सत् कह कर निरूपण न करते क्योंकि क्षणिक तीनों काल में कैसे रह सकता है (अतः) क्षणिक नहीं।

सं०—सत् और क्षणिक में फिर क्या अन्तर रहा ?

## दृष्टान्तासिद्धेश्च ॥३७॥

प० क्र०—(च) और (दृष्टान्ता सिद्धेः) दीपक की 'लौ' की उपमा में क्षणिक की सिद्धता भी नहीं है।

भा०—साध्य की सिद्धि में दृष्टान्त ही बल है। दीपक की लौ का दृष्टान्त इसमें सत्व हेतुक है न कि क्षणिकत्व का किन्तु उसके अति सूक्ष्म होने से क्षणिकत्व का भ्रम होता है यथार्थ में वह क्षणिक नहीं। क्योंकि वह एक क्षण से अधिक तो ठहरता ही नहीं। और परिवर्त्तन प्रतिक्षण

होता है। जब दृष्टान्त से क्षणिकत्व असिद्ध है तो उसके आधार पर जगत के सब पदार्थ कैसे क्षणिक हो जावेंगे।

सं०—इसमें वड़ा दोष यह भी है—

## युगपज्जायमानयोर्न कार्य्यकारणभावः ॥३८॥

० क्र०—( युगपज्जायमानयोः ) एक समय में होने वाले दो पदार्थों का (कार्य कारण भावः) कार्य और कारण-भाव भी (न) नहीं होता।

०—जो क्षणवाद में पूर्व २ क्षण का उत्तर २ क्षण में कार्य कारण भाव माना जाता है वह क्रम से एक समय में होने वालों का माना है परन्तु जो एक काल में उत्पन्न होते हैं उनका परस्पर पूर्वापरि भाव नहीं होता जब कि कार्य कारण भाव पूर्वापरि के साथ व्याप्त है। सदैव कार्य कारण के साथ एक के पश्चात् दूसरा होगा इसमें पूर्व का नाम कारण और पश्चात को कार्य कहते हैं अतः कार्य कारण भाव एक काल में होने वालों का नहीं हो सकता।

०—क्रमागत पदार्थों का भी कार्य कारण भाव नहीं हो सकता।

## पूर्वापाये उत्तरायोगात् ॥३९॥

क्र०—(पूर्वापाये) प्रथम क्षण के नाश होने पर ( उत्तरायोगात् ) उत्तर क्षण की उत्पत्ति नहीं होती।

[illegible] काल में विद्यमान रहा करता है जैसे वस्त्र का [illegible] में रहता है इसी प्रकार यदि पूर्व क्षण को उत्तर क्षण का कारण मानने पर पूर्व क्षण उत्तर क्षण में विद्यमान मानना पड़ेगा परन्तु क्षणिकवाद में यह नहीं है वहां तो केवल एक क्षणमात्र ही पदार्थ की स्थिति माना गया है अतः क्रम से होने वालों का कार्य कारण भाव नहीं माना जा सकता।

सं०—इसमें जो दोष है वह यह है कि:—

## ॥ तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥४०

प० क्र०—(तद्भावे) कार्य कारण के वर्त्तमान होने और (तदयोगात्) कार्य कारण के अविद्यमान होने से (उभय व्यभिचारात्) अन्वय व्यतिरेक का व्यभिचार होने से (अपि) भी (न) क्रम पूर्वक होने वालों का कार्य कारण भाव नहीं हो सकता।

भा०—कारण के होने पर कार्य का होना 'अन्वय' और न होने पर न होना 'व्यतिरेक' कहलाता है यह कार्य कारण के नियामक हैं और इन्हीं के होने पर कार्य कारण भाव होता है परन्तु पूर्वोत्तर क्षण में 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' नहीं होता।

सं०—कार्य काल में कारण रहे नियम नहीं किन्तु कार्य से पूर्व विद्यमान रहने का नियम है इसलिये उनका कार्य कारण भाव होना सम्भव है। इसका यह समाधान है।

## पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥४१॥

प० क्र०—(पूर्व भाव मात्रे) कार्य से कारण को पूर्व भाव मात्र मानने से (नियमः) निमित्त तथा उपादान कारण का नियम (न) नहीं हो सकता।

भा०—यदि कार्य से पूर्व होने वाले को कारण माना जावे और कार्य काल में विद्यमान रहने का नियम न किया जावे तो निमित्त और उपादान कारण का नियम न रहेगा अर्थात् यह उपादान है, यह निमित्त कारण है, यह भेद नहीं किया जा सकता। अतः कार्य कारण भाव नहीं हो सकता और उसके न होने से क्षणिकवाद असङ्गत हो जाता है।

सं०—विज्ञान में इसको किस प्रकार देखा जाता है।

## न विज्ञानमात्रं वाह्यप्रतीतेः ।४२

प० क्र०—(विज्ञानमात्रम्) एक विज्ञान पदार्थ ही है (न) नहीं क्योंकि (वाह्यप्रतीतेः) इसके सिवाय वाह्य पदार्थों की भी प्रतीत होती है।

भा०—जो ऐसा मानते हैं कि सिवाय विज्ञानके और कोई पदार्थ नहीं यह कथन इसलिये ठीक नहीं जचता कि विज्ञान तो अनुभव-सिद्ध वस्तु है उसी प्रकार वाह्य पदार्थ भी अनुभव-सिद्ध हैं जब दोनों अनुभव-सिद्ध हैं तो केवल विज्ञान है कथन केवल कथन मात्र है।

सं०—यदि कहो कि बाह्य प्रतीति भी विज्ञान ही है और यह विज्ञान ही स्वप्न के समान पदार्थाकार हो कर बाह्य प्रतीति में आता है तो:—

## तदभावे तदभवाच्छून्यन्तर्हि ॥४३॥

प० क०—( तर्हि ) यदि विज्ञान के सिवाय बाहर पदार्थ न स्वीकार करें तो (तद्भावे) तो उनके न होने से ( तद्भावात् ) और यतः सावयव पदार्थ में ही उपादान कारण और आरंभकपन है और निरवयव में नहीं इस कारण सब पदार्थ नाशवान हैं कथन मिथ्या है।

भा०—ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं हो सकता और न ज्ञेय के आधार को ले सकता है यदि बाह्य पदार्थ न मानें तो बिना उनके ज्ञान अथवा आकार का धारण करना ही संभव है क्योंकि पदार्थ होने पर होना और न होने पर न होना केवल विज्ञान पदार्थाकार नहीं हो सकता स्वप्न में पदा विज्ञान पदार्थाकार नहीं होते किन्तु जाग्रत के पदार्थों का अन्यथा ज्ञान है। पदार्थों की वासना को आकार का हेतु माने तो भी ठीक नहीं इसलिये केवल विज्ञान ही एक पदार्थ है मानना ठीक नहीं।

सं०—शून्य मानने वाला कहता है कि:—

## शून्यं तत्वं, भावो वि[illegible]
## वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥४४॥

प० क्र०—(शून्यं) शून्य ही (तत्वं) एक पदार्थ है (भावः) जो विद्यमान है वह (विनश्यति) नष्ट हो जावे और (विनाशस्य) नाश होना (वस्तु धर्मत्वात्) पदार्थ मात्र का धर्म है।

भा०—पदार्थ मात्र का नाश होना, स्वाभाविक धर्म के भीतर है जिसका नाश है उसका आरंभ भी है जो पदार्थ आदि अन्त वाला है वह मध्य में भी स्वप्न पदार्थ की भांति मिथ्या ही प्रतीत होता है।

सं:—इसका समाधान यह है:—

## अपवादमात्र मबुद्धानाम् ॥४५॥

प० क्र०—(अबुद्धानाम्) जो पदार्थ है वह विनश्वर हैं यह कथन-मात्र मूर्खता है।

भा०—पदार्थमात्र नाशवान हैं यह नियम नहीं जो सावयव हैं वह अवश्य विनश्वर हैं निरवयव का कभी नाश नहीं होता वह सदैव अविनाशी है। पदार्थ का नाश उपादान कारण और आरंभक संयोग से होता है यतः दोनों सावयव हैं अतः नाश अवश्यभावी माना जा जा सकता है परन्तु निरवयव ऐसा नहीं होता अतः वह नाशवान नहीं।

स०—पूर्वोक्त दोनों पक्षों के कथन में जो निरूपण होने की स्थिति है वह क्या ?

## उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥४६॥

प० क०—( उभयपक्ष समान क्षेतुत्वात् ) पहिले विचार किये गये दोनों पक्षों की भांति ( अयम्, अपि ) यह पक्ष भी त्याज्य है।

भा०—चार सिद्धान्त जिनमें सौत्र्यंतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक नाम के भेद हैं। सांख्याचार्य का कहना है कि दोनों त्याज्य हैं उनके यह सिद्धान्त हैं जिनमें वैभाषिक और सौत्रांतिकों का कहना है कि "वाह्यार्थ पदार्थ में समानता होने से यह प्रतीति है" यह प्रथम पक्ष। केवल विज्ञान ही है यह योगाचार का दूसरा पक्ष तथा केवल शून्य ही शून्यवादियों का पक्ष है। सारांश यह कि यह सब त्याज्य है क्योंकि कसौटी पर नहीं उतरते।

सं०—यह क्यों त्याज्य है, इस लिये कहते हैं।

## अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥४७॥

प० क०—(उभय था) दुख की अत्यन्त निवृत्ति और उसका साधन दोनों में एक भी न होने से शून्य होना (अपुरुषार्थत्वम्) अपुरुषार्थ है।

भा०—पुरुषार्थ में दो ही बातें हैं दुख की अत्यन्त निवृत्ति तथा उसके साधन इन्हीं से पुरुष प्रयोजन सिद्ध होता है। आत्मविनाश कोई पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता परन्तु शून्यवादी लोग पुरुषार्थनाश को भी मानते हैं कि जिसे कोई भी न चाहेगा। इसीलिये यह शून्यवाद त्याज्य कहा है।

सं०—गति विशेष से वन्ध के विषय में प्रकाश डालते हैं।

## न गतिविशेषात् ॥ ४८ ॥

प० क्र०—(गति विशेषात्) गति विशेष से भी (न) पुरुष की वन्ध नहीं हो सकती। उसी के आकार वाला विज्ञान का भी होना असम्भव है और (शून्य) केवलमात्र शेष रह जाता है।

भा०—संसार में विना ज्ञेय के ज्ञान नहीं होता वह ज्ञेय के आकार को भी धारण नहीं कर सकता अतः वाह्य पदार्थों के मानने से ही विज्ञान की स्थिति और उनके आकार की स्थिति है अन्यथा सब असंभव है। जब कोई पदार्थ ही नहीं तो किसका आकार और किसका ज्ञान होगा। आकार और ज्ञान तो पदार्थ के साथ व्याप्त है। उसके होने पर होना और न होने पर न होना। अतः विज्ञान पदार्थाकार नहीं होता। स्वप्न में भी जाग्रत के पदार्थों का मिथ्या ज्ञान था वहाँ भी विज्ञान ही पदार्थाकार हो गया नही कह सकते।

वासना भी पदार्थजन्य होने से बिना कारण पदार्थों के माने वासना आकार हेतुक भी नहीं मान सकते।

सं०—यदि शून्य हीं एक पदार्थ है तो :—

## निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ॥ ४९ ॥

प० क्र०—(निष्क्रियस्य) क्रिया–फल रहित होने से (तदसम्भवात्) गति सम्भव नहीं।

भा०—इस लोक में आवागमन को गति विशेष कहते हैं इसका यह भाव है कि पुरुष को लोक तथा परलोक की प्राप्ति वन्ध कहलाती है अतः यदि आवागमन न रहे तो वन्ध भी न रहे इसलिये गति विशेष भी वन्ध का कारण नहीं। गतिपरिणामी में है अपरिणामी नहीं इसलिये पुरुष की गति विशेष से वन्ध मानना भी समीचीन नहीं।

सं०—मध्यम परिमाण जीव का होने से गति असम्भव नहीं।

## मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्ता वपसिद्धान्तः ॥ ५० ॥

प० क्र०—(घटादिवत्) जैसे घड़ा मध्यम परिमाण वाला होने से सावयव और नाशवान है तथैव (मूर्त्तत्वात्) पुरुष भी मध्यम परिमाण है एवं (समान धर्मापत्तौ) अवयव वाला और नाशवान हो जायगा परन्तु (अप सिद्धान्तः) इस से सिद्धान्त हानि होती है।

भा०—जीवात्मा को नित्य माना है वह यदि मध्यम परिमाण घड़े आदि की भांति मान लिया गया तो सावयव होने से अनित्य हो जायगा। अतः जीवात्मा को मध्यम परिमाण मान कर गति शेष के कारण बन्ध मानना अनुचित है।

सं०—फिर पुरुष यदि निष्क्रिय है तो गति बतलाने वाली श्रुतियों को संगति कैसे बैठेगी।

## गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥ ५१

प० क्र०—( आकाशवत् ) आकाश के समान अर्थात् घंटादि में उपाधि भेद से गति अथवा अगति का होना (अपि) भी ( उपाधियोगात् ) बुद्धि रूपी उपाधि के योग से गतागति। उसी का ( गति श्रुतिः ) गति प्रतिपादक श्रुति कहती हैं।

भा०—जीवात्मा अणुपरिमाण तथा सत्, चित्त- स्वरूप है यह क्रियारूप विकार का आश्रय वाला नहीं क्योंकि नित्य कूटस्थ और उसको इस से उस लोक और वहां से फिर यहां जो गति या अगति है वह बुद्धिरूप उपाधि भेद से है उसोका गति प्रतिवादक श्रुतियों में वर्णन है अन्य का नहीं।

सं०—धर्म तथा अधर्म रूप काम्यकर्मों से भी बन्ध नहीं होता।

## न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ॥ ५२ ॥

प० क्र०—( कर्मणा ) भले अथवा बुरे कर्मों से ( अपि ) भी (न) पुरुष वन्ध नहीं क्योंकि वह ( अतद्धर्मत्वात् ) पुरुष धर्म नहीं है ।

भा०—अदृष्ट ( कर्मों ) का आश्रय बुद्धि है न कि पुरुष अतः यह अदृष्ट भी वन्ध के कारण नहीं ।

सं०—बुद्धि का धर्म होने से अदृष्टों से पुरुष वन्ध मानने में क्या दोष है ।

## अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥ ५३ ॥

प० क्र०—( अन्य धर्मत्वे ) अन्य धर्म से अन्य का बंधन मान लेने पर ( अतिप्रसक्तिः ) मुक्त भी बद्ध हो जावेगा ।

भा०—बुद्धि से जैसे एक पुरुष बद्ध है उसी प्रकार एक मुक्ति भी है यदि अन्य दृष्टों से अन्य का बन्धन हो सके तो मुक्त और वन्ध दोनों समान हो जांयगे अतः अदृष्ट वन्धन का कारण नहीं ।

सं०—अदृष्ट तो पुरुष का धर्म है न कि बुद्धिका ।

## निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥ ५४ ॥

प० क्र०—( च ) कर्मों को पुरुष का धर्म मानने से (निर्गुणादि श्रुति विरोधः ) जिन श्रुतियों में निर्गुण का प्रतिपादन है विरोध आने से ( इति ) अतः पुरुष का धर्म नहीं ।

भा०—जैसा कहा जाता है कि पुरुष अविकारी है अतः अदृष्टों को पुरुष का धर्म मानने से उक्त वाक्यों से विरोध आता है अतः अदृष्टों को पुरुष का धर्म मानना ठीक नहीं।

सं०—प्रकृति योग भी बन्ध हेतु नहीं क्योंकि वह बद्ध मुक्त दोनों में समान है।

## तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥ ५५ ॥

प० क्र०—( तद् योग ) प्रकृति के जिस सम्बन्ध से पुरुष बन्ध होता है व ( अविवेकात् ) अज्ञान से होता है ( अपि ) उसकी बद्ध तथा मुक्त पुरुष में ( समानत्वम् ) समानता नहीं।

भा०—इस सांख्य शास्त्र में अविवेक से होने वाले प्रकृत योगि को पुरुष का बन्ध हेतु कहा है न कि केवल संयोग मात्र को। अतः बद्ध मुक्त समान नहीं क्योंकि मुक्त पुरुषों में अविवेक होता ही नहीं।

संसार में भी सुख दुख का अनुभव अविवेक तथा विवेक के ही कारण होता हैं अतः बन्ध योग अविवेक हेतुक है न कि प्रकृति योग वश।

सं०—इस विवेक योग से प्रकृति पुरुष संयोग यदि बन्ध हेतुक है तो उसकी निवृत्ति किस से होगी।

## नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥ ५६ ॥

प० क्र०—( ध्वान्तवत् ) अन्धकार की प्रकाश से निवृत्ति उसी

प्रकार ( नियत कारणात् ) विवेक ज्ञान से ( तदुच्छित्तिः ) अविवेक का नाश होता है ।

भा०—जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार विवेक से अविवेक की निवृत्ति होती है इसी प्रकार पुरुष प्रकृति के अविवेक की निवृत्ति का उपाय एकमात्र विवेक ज्ञान है ।

सं०—प्रकृति, पुरुष का यदि ज्ञान भी हो जावे तो मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि अविवेक रहना ही है ।

## प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ।५७।

प० क०—( प्रधानाविवेकात् ) प्रकृति पुरुष अज्ञान से ( अन्याविवेकस्य ) अन्य अज्ञानों की उत्पत्ति होती है (तद्धाने) उसके दूर होने से ( हानम् ) अन्य अज्ञानों का नाश होता है ।

भा०—यदि कारण निवृत्ति हो जावे तो कार्य स्वयं निवृत्ति होता है प्रकृति पुरुष का अज्ञान ही देहादि इन्द्रिय प्रथादि सम्बन्धी में निमित्त कारण है । यह पुरुष इसी अवि- से वुद्धि की भांति इन में अपना आत्मा मानकर उनके नाश से अपना नाश मान लेता है । इससे इसी को दूर करना चाहिये ।

सं०—यदि विवेक ज्ञान से पुरुष को मोक्ष हो सके तो बन्धादि भी स्वरूप से मानने होंगे और अविवेक कृत प्रकृति संयोग से नहीं ।

## वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ ५८ ॥

प० क०–( वाङ् मात्रं ) बन्ध, ज्ञान अज्ञानं पुरुषार्थ आदि धर्म पुरुष में उपाधि से हैं ( नतु सत्वं ) स्वाभाविक नहीं इस लिये कि ( चित्त स्थितेः ) बुद्धि में स्थिति है ।

भा०—गुडहल के फूल में जैसे लालिमा स्वाभाविक है और उसके पास यदि स्फटिक मणि रक्खी जावे तो वह लाल रंग की दिखाई देगी यद्यपि मणि तो स्वच्छ स्वेत ही है इसी प्रकार बन्ध, विवेक, अविवेक और प्रयत्मादि धर्म वास्तव में बुद्धि में है पुरुष में नहीं केवल बुद्धि उपाधि के संयोग से पुरुष में उनकी प्रतीति है अतः बन्ध आदि धर्म व्यावहारिक है न कि पार मार्थिक ।

सं०—यदि यह औपाधिक धर्म है और स्वाभाविक नहीं तो श्रवण मनन मात्र से ही निवृत्ति होगी फिर विवेक साक्षा त कार करना ठीक नहीं ।

## युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥५९

प० क०–( दिङ् मूढ़ वत ) दिशा भ्रम वाले को ( अवरो क्षात ऋतें ) दिशा बोध होने पर ही भ्रम निवारण होता है न कि श्रवण तथा मनन से उसी प्रकार बन्धादि विवेक साक्षात्कार के विना ( युक्तितः अपि ) सुनने तथा वि-चारने से ( नवाध्यते ) निवृत्ति नहीं हो सकते ।

भा०—प्रकृति पुरुष भिन्न २ है और बन्धादि की प्रतीति का मूल कारण प्रकृति पुरुष का अविवेक है जो सुनने तथा

मनन करने से छुट नहीं सकता क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी नहीं किन्तु विवेक साक्षात्कार ही इसका केवल विरोधी है इसी लिये निवृत्ति भी हो सकती है। यह पूर्व है यह पश्चिम दोनों विरोधी होने से भ्रम निवारण के कारण होते हैं।

सं०—जिन प्रकृति आदि पदार्थों से पुरुष का विवेक ज्ञान मुक्ति का हेतु है वह तो प्रत्यक्ष नहीं फिर उनका ज्ञान होना कैसे सम्भव है।

**अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो**
**धूमादिभिरिव वह्ने ॥ ६० ॥**

प० क्र०—( धूमादिभिः ) धूमादि के देखने से अनुमान से ( वह्नि ) दूर पर्वतों में अग्नि के होने का ज्ञान होता है उसी भांति ( अचाक्षुषाणां ) जो प्रकृति पदार्थ आंख से नहीं दीखते उनका ज्ञान तथा उनके कार्य का अनुभव (अनुमानेन) अनुमान से होता है।

भा०—कार्य का कारण अवश्य होना और निराकार कार्य का कार्य अवयव वाला होगा क्योंकि विना कारण के कार्य नहीं होता अतः कार्य प्रत्यक्ष से कारण प्रत्यक्ष अनुमान सिद्ध है जहां प्रत्यक्ष नहीं वहां अनुमान प्रत्यक्ष है। जैसे धुआं से अप्रत्यक्ष अग्नि का बोध होता है इसी भांति प्रकृति आदि के तत्व अप्रत्यक्ष हैं तथापि उनके

कार्य पृथ्वी आदि प्रत्यक्ष हैं अतः उनसे प्रकृति का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है।

सं०—प्रकृति क्या वस्तु है और उससे भूतों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

**सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पँच विंशतिगणः ॥ ६१ ॥**

प० क०—( सत्व रजस्तमसां ) सत्व, रज, और तम इन तीनोंगुणों की ( साम्या वस्था ) सम अवस्था को ( प्रकृतिः ) प्रकृति कहते हैं उस ( प्रकृतेः ) प्रकृति से ( महान ) महतत्व (बुद्धि) (महतः अहङ्का ) महतत्व से अहङ्कार ( अहंकारात्पञ्च तन्मात्राणि ) अहंकार से पांच तन्मात्रायें और ( उभय इन्द्रियम् ) दोनों प्रकार की ( कर्म और ज्ञान ) इन्द्रियां उससे ( तन्मात्रेभ्यः ) पांच तन्मात्राओं से ( स्थूल भूतानि ) स्थूल भूत उत्पन्न हुये और ( पुरुषः ) पुरुष यह ( पञ्चविंशतिर्गणः ) पच्चीस पदार्थों का समूह है।

भा०—जहां सत्व, रज और तम यह तीनों गुण समान भाव से रहे वह प्रकृति है जो गुण कार्य को प्राप्त नहीं वह प्रकृति है वह अन्य पदार्थों का उपादानकारण होती है उसे

प्रकृति, प्रधान और अव्यक्त और गुणों की साम्यावस्था यह सब पर्य्याय बाची हैं। प्रकृति से वुद्धि तत्व, वुद्धि तत्व से अहंकार, अहंकार से शब्द, रुप, रस गन्ध, स्पर्श, पांच तन्मात्रायें और कान, खाल, आंख, जीभ, नासिका यह ज्ञानेन्द्रिय और मन उत्पन्न हुये इन मन भीतर की इन्द्रिय और शेष बाहर की हैं। तन्मात्राओं से पांचों भूत स्थूल हुये पुरुष शब्द जीव और ईश्वर के लिये ग्रहण किया है यह पुरुष कार्य कारण रहित है।

सं०—इस प्रकृति के कार्य कारण भाव क्या है अर्थात् किस कार्य से किस कारण को जानते हैं।

**स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य ॥ ६२ ॥**

प० क्र०—( स्थूलात् ) स्थूल से ( पञ्च तन्मात्रस्य ) पंच तन्मात्रा का अनुमान।

भा०—जिन पदार्थों का गुणों का ज्ञान वाह्येन्द्रियों द्वारा होता है वह स्थूल और शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध इन्हें पंच तन्मात्रायें कहा जाता है स्थूल भूतों से कार्य रूप पृथ्वी आदि और उससे शब्दादि पंच तन्मात्र सूक्ष्म रुप कारण को जानते हैं कि अमुक २ कारण से अमुक २ पदार्थ उत्पत्ति होती है।

सं०—अनुमान इस भांति होता है।

**वाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ॥ ६३ ॥**

प० क्र०—( वाह्याभ्यन्तराभ्यां ) बाहर भीतर इन्द्रियों द्वारा (च)

और ( तैः ) उन पांच तन्मात्राओं से ( अहंकारस्य ) अहंकार का अनुमान होता है।

भा०—इन्द्रियां तथा तन्मात्रायें अहंकार का कार्य होने से इनके द्वारा उसका अनुमान होता है यह अहंकारबुद्धि सत्त्व का एक विशेष परिणाम है और महतत्व अर्थात् बुद्धि तत्व जो प्रकृति का पहिला कार्य है उसीसे अहंकार की उत्पत्ति है।

सं०—अन्तः करण का अनुमान कैसे होता है

## तेनान्तःकरणस्य ॥ ६४ ॥

प० क्र०—( तेन ) अहंकार से ( अन्तः करणस्य ) अन्तः करण का अनुमान होता है।

भा०—अहंकार रूप कार्य से उसके कारण महतत्व बुद्धि का अनुमान किया जाता है यह अन्तः करण चतुष्टय है जिस में मन चित्त बुद्धि और अहंकार हैं यह बुद्धि की ही एक अवस्था है अतः मन बुद्धि से प्रथक नहीं। बुद्धि सत्त्व को प्राप्त अवस्था को ही मन कहते हैं अर्थात् संकल्प करने से मन, निश्चय करने से बुद्धि, और चिन्तवन से चित्त उससे अहंकार जाना जाता है।

—अन्तःकरण कार्य की विशेषता।

## ततः प्रकृतेः ॥ ६५ ॥

प० क्र०—( ततः ) अन्तःकरण रूपी कार्य से ( प्रकृतेः ) प्रकृति का अनमान होता है।

भा०—मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कार का नाम अन्तःकरण है इसलिये अन्तःकरण रूप कार्य से प्रकृति का अनुमान किया जाता है।

सं०—पुरुष का अनुमान कैसे होता है।

## संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥ ६६ ॥

प० क्र०—( संहत परार्थत्वात् ) अन्य के लिए होने से (पुरुषस्य) पुरुष का अनुमान होता है।

भा०—प्रकृति और उसके कार्यों की पारस्परिक मिलावट का नाम संघात है। यह संघात दूसरों के लिए होता है। जैसे आसन और शैया से भिन्न उसके भोक्ता का ही अनुमान होता है इसी प्रकार प्रकृति आदि पदार्थों की समूह अपने से भिन्न भोक्ता का अनुमान कराता है।

सं०—क्या प्रकृति का भी कोई कारण है।

## मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ ६७ ॥

प० क्र०—( मूले ) मूल कारण में ( मूला भावात् ) कारण के अभाव से ( मूलं ) मूल कारण (अमूलं) कारण रहित होता है।

भा०—कारण का कारण नहीं हो सकता क्योंकि कारण सदैव मूल रहित अथवा स्वयं मूल ही होता है। महतत्व से

लेकर समस्त कारणों का मूल कारण प्रकृति है इस मूल उपादान कारणका कोई कारण नहीं। यदि कारण कोई माने भी तो किसी एक कारण पर नहीं ठहर सकते अतः प्रकृति अमूल है।

सं०—यदि अनवस्था का भय है तो क्या युक्ति सिद्ध हो कोई हटा सकता है।

## पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति सँज्ञामात्रम् ॥ ६८ ॥

प० क्र०—(पारम्पर्ये) परम्परा स्वीकार करने पर (अपि) भी एकत्रं परिनिष्ठा, इति) एक पर तो ठहरना ही है (संज्ञा मात्रम्) इसलिये नामका केवल अन्तर है।

भा०—इस सिद्धान्त के विरुद्ध कि मूल का भी मूल होता है यह युक्ति दी जाती है कि घड़े का कारण मिट्टी और मिट्टी का कारण परमाणु होते हैं इस क्रम से प्रकृति का कारण अन्य प्रकृति हो सकती है परन्तु ऐसा नहीं क्योंकि कारण का कारण मानते मानते किसी एक कारण पर ठहरना ही होगा उस ठहरे हुये कारण का कोई कारण न होगा इस परम्परा से यदि न ठहरे तो फिर वही दोष रहेगा और इष्ट सिद्धि न होगी और उक्त दशा में कारण इष्ट प्राप्ति नहीं होगी तो किसी कारण से अन्त में ठहरना ही पड़ेगा इसी ठहरने के स्थान को प्रकृति रूप कहते हैं।

सं०—इसमें और भी हेतु हैं।

## समानः प्रकृतेर्द्वयो ॥ ६९ ॥

प० क०—( द्वयोः ) दोनों को ( प्रकृत्तेः ) प्रकृति का मानना ( समानः ) एक सा है।

भा०—दोनों पक्ष सिद्ध और साधक प्रकृति को मूल कारण समान ही मान कर विवाद रहित हो सकते हैं।

सं०—परन्तु इससे तो प्रकृति और पुरुष की अनुमान द्वार सिद्धि हुई उक्त दशा में विवेक ज्ञान भी शास्त्र सुनने मात्र से सब को हो जाना चाहिये।

## अधिकारित्रैविध्यान्ननियमः ॥ ७०

प० क०—( अधिकारित्रै विध्यात् ) अधिकारियों की विचित्रता से यह नियमः ) नियम ( न ) नहीं।

भा०—शास्त्र के सुनने मात्र से सब को ज्ञान हो जावे यह कोई आवश्यक नियम नहीं क्योंकि श्रोता उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के ज्ञान योग्यता से होते हैं विवेक ज्ञान तो केवल उत्तम अधिकारी को ही हो सकता है क्योंकि उसका हृदय अवाधित विवेक की बनी हुई भूमि है।

सं०—कार्य कारण भाव निरूपण होने के साथ उसका क्रम कथन किया जाता है कि सबसे प्रथम कौनसा कार्य हुआ।

## महदाख्यमाद्यं कार्य्यं तन्मनः ॥ ७१ ॥

प० क०—( महदाख्यम् ) महत्तत्व ( अद्य कार्यं ) प्रथम कार्य है और वह ( तन्मनः ) बुद्धि सत्व है।

भा०—मूल कारण प्रकृति का कार्य महतत्त्व है यह निश्चयात्मक होने से बुद्धि सत्त्व कहलाता है।

सं०—दूसरा कार्य यह है।

## चरमोऽहङ्कारः ॥ ७२ ॥

प० क्र०-(चरमः) अन्य ( अहङ्कारः ) अहङ्कार है।

भा०—इस बुद्धि सत्त्व तत्व के अनन्तर अहङ्कार है अर्थात् इसी बुद्धि सत्त्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है।

सं०—अहंकार का भी कोई कार्य है।

## तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥ ७३ ॥

प० क्र०-(तत्कार्यत्वम्) उसका कार्य ( उत्तरेषाम् ) ग्यारह इन्द्रियां और पंचतन्मात्रायें हैं।

भा०—कार्य कारण भाव का यही क्रम है।

सं०—फिर यह नहीं कह सकते कि सब प्रकृति के ही कार्य हैं।

## आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥ ७४ ॥

प० क्र०-(पारम्पर्ये, अपि ) परम्परा से कारण होने पर भी ( तद् द्वारा ) उनके द्वारा ( अणुवत् ) परमाणु की भाँति आद्य हेतुता ) प्रथम कारण तो प्रकृति ही है।

भा०—यद्यपि प्रकृति का प्रथम कार्य महतत्त्व ही है। और फिर क्रमशः एक दूसरे से उत्पन्न हुये हैं और इन सब का साक्षात्कारण प्रकृति नहीं प्रतीत होता तो भी महतत्व ( बुद्धि सत्व ) इनका कारण है इसे ही अवान्तर

आदि कारण कहते हैं न कि मूल कारण क्योंकि द्वयणुक द्वारा परमाणु सब पदार्थों का कारण है इसीलिये सब का कारण प्रकृति ही है।

सं—प्रकृति पुरुष तो अनादि नित्य हैं और सब कार्यों से पूर्व क्षण में रहता है तो प्रकृति ही कारण क्यों पुरुष क्यों नहीं।

## पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेन्यतरयोगः ॥७५

प० क्र०—( द्वयोः ) दोनों के ( पूर्व भावित्वे ) पूर्व होने पर ( एक तरस्य ) एक को ( हाने ) परिणामी न होने से (अन्यता) ( रयोगः ) दूसरा कारण है।

भा०—प्रकृति और पुरुष अनादि हैं और इस कार्य जगत से पूर्व विद्यमान रहते हैं परन्तु जगत का अपादान कारण पुरुष नहीं होता क्योंकि पुरुष अपरिणामी से परिणामी हो जावेगा यदि उसे उपादान कारण मानेंगे। अब प्रकृति ही उपादान कारण होने के योग्य है क्योंकि इसी में परिणाम होते हैं वही जगत में देखे जाते हैं।

सं सी छोटे परिछिन्न पदार्थ को कारण क्यों न मानलें इतनी बड़ी प्रकृति के कारण मानने में क्या महत्व है। जैसे छोटे वटवीज से बड़ा वृक्ष ! हो जाता है।

## परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥ ७६ ॥

प० क्र०—( परिच्छिन्नं ) कार्य वस्तु पदार्थों के। (सर्वोपादानम्) सर्व उपादान कारण होने में ( न ) नहीं होते।

भा०—एक देशीय मिट्टी आदि के पदार्थ घड़े आदि कार्यों के उपादान हुआ करते हैं परन्तु एक देशीय महत्वादि का

उपादान कारण नहीं हो सकते इसी प्रकार यदि प्रकृति भी इसी प्रकार अल्प होती तो सब संसार का उपादान कारण न होती अतः प्रकृति परिछिन्न नहीं। परन्तु उसे विभु भी नहीं कह सकते क्योंकि छोटे पदार्थों की अपेक्षा से प्रकृति अपरिछिन्न है।

सं०—अल्प पदार्थ उपादान कारण नहीं हो सकते।

## तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥ ७७ ॥

प० क्र०—( च ) और ( तदुत्पत्ति श्रुतेः ) परिछिन्न की उत्पत्ति नहीं सुनी गई।

भा०—सृष्टि से पूर्व प्रकृति जगत का उपादान कारण विद्यमान था वही सृष्टि समय नाम रूप परिमाणान्तर को प्राप्त होता है इसी से प्रकृति से भिन्न परिछिन्न पदार्थों की उत्पत्ति प्रकृति से है अतः प्रकृति ही जगत का उपादान कारण है।

सं०—क्या अविद्या जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती।

## नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥ ७८ ॥

प० क्र०-(अवस्तुनः) अवस्तुभूत अविद्या से (वस्तु सिद्धिः) भाव पदार्थ की सिद्धि (न) नहीं हो सकती।

भा०—पदार्थों का जहां कार्य कारण भाव देखा जाता है वहां समान रूपता है परन्तु अविद्या से किसी भावपदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती यदि हो तो अवस्तुभूत रूप

अविद्या के कार्य भी अनिर्वचनीय होने चाहिये परन्तु सब पदार्थ अनिर्वचनीय नहीं अतः यह अविद्या भी जगत का कारण नहीं हो सकती।

सं०—जब सब जगत् अनिर्वचनीय है तो फिर इसका अनिर्वचनीय कारण मान लेने में क्या दोष।

## आबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्चनावस्तुत्वम् ॥ ७९

द० क०—( अबाधात् ) बाध न होने से ( च ) और ( अदुष्ट कारण जन्यत्वात् ) दुष्ट कारण जन्य न होने से ( अवस्तुत्वम् ) जगत् अवस्तु अर्थात् अविद्या (अनिर्वचनीय ) ( न ) नहीं।

भा०—सीपी में चाँदी का भ्रम वहाँ होता है के जहाँ सीपी के ज्ञान से कि यह चाँदी नहीं है होता हो अर्थात् सीपी में चाँदी के ज्ञान की निवृति है. यदि जगत् भी सीपी में चाँदी की नाहीं अवस्तु होता तो जिस प्रकार ज्ञान द्वारा सीपी में चाँदी का अभाव प्रतीत होता है उसी प्रकार जगत का भी अभाव प्रतीत होता परन्तु ऐसा नहीं है।

सं०—अविद्या भूत कारण से उत्पन्न जगत को वस्तु भूत माना जावे तो क्या दोष।

## भावेतद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात कुतस्तरां तत्सिद्धि ॥ ८० ॥

प० क्र०—( भावे ) कारण के भाव रूप होने से ( तद्योगेन ) उसके साथ योग होने से ( तत्सिद्धिः ) भाव रूप कार्य सिद्ध होता है परन्तु ( अभावेः ) कारण के अभाव रूप होने से ( तदभावात् ) उसका असम्वन्ध होने से ( कुतस्तरां ) किस भाँति ( तात्सिद्धिः ) उसकी सिद्धि हो सकती है।

भा०—कारण के गुण के समान ही कार्य में गुण होंगे इसलिये भाव रूप कारण योग से भाव रूप कार्य ही होगा जो भाव रूप धर्म उपादान कारण में होगा वही कार्य में भी पाया जावेगा इसके विरुद्ध ऐसा नहीं हो सकता कि कि अभाव रूप कारण सम्बन्ध से भाव रूप कार्य कभी नहीं हो सकता।

सं०—क्या कर्म जगत् का कारण नहीं हो सकता।

## न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥ ८१ ॥

प० क्र०—( उपादानत्व योगात ) उपादान शील न होने के कारण ( कर्मणः ) कर्म से जगत का उत्पन्न होना ( न ) नहीं हो सकती।

भा०—धर्माधर्म रूपी कर्मों का ग्रहण पाये जाने से कर्म निमित्त कारण कहे गये हैं उन्हें उपादान कारण नहीं कहा गया अतः इससे जगत की उत्पत्ति असम्भव है। यह भी कि प्रकृति द्वारा द्रव्य से वस्तु उत्पन्न होती है परन्तु

कर्म यतः द्रव्य नहीं होते अतः उस से जगत् की उत्पत्ति असिद्ध है।

सं०—जब कर्म से ही मुक्ति हो तो प्रकृति-पुरुष-विवेक को मोक्ष का साधन मानने की क्या आवश्यकता है।

**नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगाद् पुरुषार्थत्वम् ॥ ८२ ॥**

प० क्र०—( आनुश्रविकात् अपि ) कर्मों से भी ( तत्सिद्धिः मोक्ष प्राप्ति ( न ) नहीं हो सकती इसलिये कि ( साध्यत्वेन ) कर्मों का फल साधन से मिलता है ( आवृति योगात् ) और पुनः पुनः करने योग्य होता है इस कारण ( अपुरुषार्थत्वम् ) कर्म से उत्पन्न मोक्ष फल पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

भा०—केवल कर्म मोक्ष के हेतु हैं तो कर्म जन्य पदार्थ बारम्बार उलट पुलट होता रहता है और बारम्बार अभ्यास से उसकी स्थिरता है इसी प्रकार यदि मोक्ष आनन्द भी कर्म से उत्पन्न हुआ है तो वह भी बार २ आवृत्ति रूप मानना चाहिये और इस बार २ आवृति के कारण वह एक रस न रहने का दोप युक्त होगा अतः मुक्ति कर्म नहीं माननो चाहिये।

सं—यदि कर्म जन्य नहीं तो अन्य साधन क्या है।

**तत्रप्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥ ८३ ॥**

प० क्र० –( तत्र ) उन कर्मों में ( प्राप्त विवेकस्य ) विवेकी पुरुष को ( अनावृत्ति श्रुतिः ) पुनर्जन्म न होने वाली श्रुति सुनी जाती है।

भा०—मुक्ति का साधन कर्म और ज्ञान है केवल कर्म नहीं क्योंकि वह आवागमन के योग्य हैं अतः बिना स्थिर साधन के वह ( विवेक ) ज्ञान नहीं हो सकता।

सं०—केवल कर्मों का क्या फल है।

## दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥८४

प० क्र०–( जलाभिषेकवत् ) जल स्नान के समान ( दुक्खात् दुःखं ) दुख से पुनः दुख की उत्पत्ति होती है (जाड्य विमोकः ) अज्ञान दूर ( न ) नहीं होता।

भा०—स्नान करने का उद्देश्य मल निवृत्ति है इसी प्रकार वारम्बार करना पड़ता है कि मल निवृत्त हो उसी प्रकार श्रवण, मनन आदि कर्मों से छुटकारा पाया हुआ अज्ञान शारीरिक मैल के सदृश पुनः हो जाता है इसीलिये दुख से दुख की निवृत्ति के अनन्तर फिर दुख सम्भव हैं अतः कर्मजन्य अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है परन्तु सदैव काल के नहीं।

सं०—काम्य कर्म मोक्षोपाय नहीं तो निष्काम कर्मों से होगी।

## काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥ ८५ ॥

प० क्र०–(काम्ये) काम्य कर्मों में (अकाम्येऽपि) निष्काम कर्मों में भी ( साध्यत्वा विशेषात ) अज्ञान दूर होने के कारण।

भा०—(काम्ये) काम्य कर्मों में अर्थात् फल चाहने वाले अदृष्टों में जिस प्रकार मुक्ति नहीं मिलती उसी प्रकार निष्काम कर्मों से भी नहीं हो सकती क्योंकि अज्ञान, निवृत्ति दोनों साधनों में समान है अर्थात् निष्काम कर्म भी अज्ञान निवृत्ति को करता है और अनावृत्ति रूपमुक्ति साधन में ब्रह्म का बारम्बार चिन्तवन नहीं करना होता अर्थात् स्वतः ब्रह्मानन्द का प्रकाश होता है यह अवस्था ज्ञान और कर्म के संचय से मिलती है केवल कर्म से नहीं।

सं०—कर्म से अज्ञान दूर होता है।

**निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं नसमानत्वम् ॥८६॥**

प० क्र०—(निज मुक्तस्य) ज्ञान से मुक्त पुरुष के (बन्धध्वंसमात्रं) बन्धन का नाश होना (परं) मोक्ष नहीं होती किन्तु (समानत्वं) ब्रह्म के समान हो जाना मोक्ष है।

भा०—ज्ञान से पुरुष को मोक्ष मिलती है न कि केवल बन्धन के नाश होने से। मुक्त होने पर पुरुष (जीव) ब्रह्म के भावों को प्राप्त कर लेता है अर्थात आनन्दोप भोग में समता हो जाती है।

सं०—ज्ञान और कर्म सघात से ही यदि मुक्ति हो तो प्रमाणोपदेश के मुक्ति रूप प्रमा की सिद्धि किस प्रकार होगी।

**द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्॥ ८७॥**

प० क्र०—( असन्नकृष्टार्थ परिच्छित्तिः ) न जाने विषय का निर्णय करने को ( प्रमा ) सत्यज्ञान कहा जाता है वह (द्वयोः) बुद्धि और पुरुष का ( एक तरस्य वा पि ) किसी एक का धर्म है ( तत्साधकतमंयतः ) उस यथार्थ ज्ञान का जो साधक हेतु है ( तत् प्रमाणम् ) वह प्रमाण कहलाता है वह तीन प्रकार का है।

भा०—यथार्थ ज्ञान को प्रमा और जिसके द्वारा प्रमा को सिद्ध करते हैं वह प्रमाण कहलाता है। प्रमा का धर्म है कि, जो पुरुष को पूर्व ज्ञात न हो उसका निश्चय करा देना और प्रमा को जिन निकटतम साधक कारण से प्रमाणित करें वह प्रमाण है पौरषेय बोध प्रमा ही है।

सं०—और भी तो प्रमाण हैं फिर तीन ही क्यों।

## तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥८८

प० क्र०—(तत्सिद्धौ) तीनों प्रमाणों की सिद्धि में ( सर्व सिद्धेः ) सर्व प्रमाण सध जाने से ( आधिक्य सिद्धः ) अधिक प्रमाणों की सिद्धि ( न ) नहीं हैं।

भा०—सब प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द द्वारा सिद्ध हो जाते हैं और इसलिये इनके ही भीतर हैं इसलिये प्रमाण तीन ही हैं शेष उनके व्याख्यान रूप है।❀

---

प्राचीन ग्रन्थों में तीन प्रमाण मुख्य माने हैं जैसे।

❀ यो० द० १।७ प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। ( २ ) प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् इत्यादि मनुः १२।१०५।

सं०—प्रत्यक्ष किसे कहते हैं।

**यत्सम्बद्धं सत्तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ८६**

प० क्र०—(यत्) जो (सम्बन्धं, सत्) इन्द्रिय तथा विषय सम्बन्ध द्वारा सिद्ध ( तदा कारो ल्लेखि ) विषय के अनुसार आकार धारण करने वाला ( विज्ञानम् ) ज्ञान होता है जिससे ( तत् प्रत्यक्षम् ) वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

भा०—अन्तःकरण का प्रकाशक परिणाम वृत्ति कहलाती है वह जब चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा निकल कर घर पर विषयक कार्यों में उसके समानाकार परिणाम (अर्थात् घट के दिशा काल और अवस्था) की रूप रेखा में सीमित हो जाती है वह वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण वाली है।

सं०—योगी को तो विना इन्द्रिय सम्बन्ध के भी तीनों काल का ज्ञान हो जाता है तो यह लक्षण सर्वत्र लागू नहीं हो सकता।

**योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्नदोषः ॥६०॥**

प० क्र०—( योगिनाम् ) योगियों को तीनों काल का (अबाह्य प्रत्यक्ष त्वात् ) बाह्य प्रत्यक्ष (न) नहीं होता अतः (दोषः) दोष नहीं।

भा०—योगी को समीप दूर तथा भूत भविष्य के पदार्थों के ज्ञान में योगजन्य सामर्थ्य से प्रत्यक्ष होना संभव है यह आवश्यक नहीं कि इन्द्रिय-विषय-वृत्ति सम्बन्ध होवे ही।

सं०—इससें और हेतु भी है।

## लीनवस्तु लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥९१॥

प० क्र०—(वा) अथवा (लीनवस्तुलब्धातिशय सम्बन्धात्) अतीत अनागत पदार्थों में अलौकिक सम्बन्ध के कारण अदोषः). दोष नहीं।

भा०—योगियों में योग वल अधिकता से दिव्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है जिस से प्रत्यक्ष होता है भाव यह है कि योग द्वारा दिव्य-शक्ति-सम्पन्न योगी के इन्द्रियों का विषय के साथ योग होकर प्रत्यक्ष होता है अतः प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं आता।

सं०—यह प्रत्यक्ष लक्षण ईश्वर में कैसे लागू होगा क्योंकि वहाँ इन्द्रियादि नहीं हैं।

## ईश्वरासिद्धेः ॥९२॥

प० क्र०—(ईश्वरासिद्धेः) ईश्वर में यह दोष सिद्ध नहीं।

भा०—जो लक्षण किया गया है वह जन्य प्रत्यक्ष का है अर्थात् जो पूर्व न होकर फिर हो परन्तु ईश्वर में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो न हो कर हो क्योंकि वह नित्य ज्ञान वाला है अतः प्रत्यक्ष की ईश्वर में असिद्धि नहीं।

सं०—वह ईश्वर कैसे है जब इतनी विलक्षणता है। क्योंकि—

## मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः

प० क्र०-(मुक्तवद्धयोः) मुक्तवद्ध, दोनों (अन्य तराभावात्) किसी भी प्रकार का न होने से (तत्सिद्धिः) ईश्वर की सिद्धि (न) नहीं होती।

भा०—मुक्तावस्था का ईश्वर है तो सृष्टि के रागदोषादि योग लक्षण पाये जाने से सृष्टिकर्त्ता न होगा। यदि वद्ध माना तो ईश=शास ने अथात् स्वामित्त भाव न बनेगा अतः दोनों रीति से ईश्वर की सिद्धि नहीं बनती।

सं०—शंका की समाधि इस प्रकार होती है—

## उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥९४॥

प० क्र०-(उभय था) दोनों भांति (अपि) भी (असत्करत्वम्) कथन असत्य है।

भा०—यह कथन किया ही नहीं जा सकता क्योंकि ईश्वर सर्व-शक्तिमान और सर्वथा स्वतंत्र है तो फिर उसका ज्ञान मनुष्य के समान इन्द्रियों के आश्रित नहीं क्योंकि

सं०—किसी प्रकार ठीक नहीं क्योंकि

## मुक्तात्मनः प्रशंसा पासासिद्धस्य वा ॥९५॥

प० क्र०-(मुक्तात्मनः) मुक्त सुभाव परमात्मा का यश सुना जाता है (वा) तथा (सिद्धस्य) सृष्टि रचना करने वाले की (उपासा) उपासना भी पाई जाती है। इसलिये उक्त दोष नहीं आता।

भा०—सब दुःखों से रहित होने से परमात्मा को मुक्त कहा गया इसलिये मुक्त पक्ष में कोई दोष नहीं आता और कर्त्ता-पने में इसलिये दोष नहीं आता कि सृष्टि रचने से बन्धन में नहीं आता किन्तु स्वेच्छा से सृष्टिकर्त्ता है।

सं०—जो ईश्वर को निरवयव मानते हैं वहां भी सृष्टि रचना का करने वाला ईश्वर नहीं।

## तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥९६॥

प० क्र०—( तत्सन्निधानात् ) प्रकृति के पास होने से ( मणिवत् ) मणि के सदृश ( अधिष्ठातृत्वं ) ईश्वर में जगत रचना की सामर्थ्य है।

भा०—जैसे चुम्बक से लोहा क्रियाशील हो जाता है इसी भांति ईश्वर के सामीप्य से जगत रचनात्मक शक्ति प्रकृति में आती है अर्थात् चेतन की प्रेरणा से जड़ प्रकृति क्रियाशील होती है न कि वह स्वयं कुछ कर सके। यह प्रकृति ईश्वर का साक्षात् सम्बन्ध ही समीपता है जो सम्बन्ध संयोग तथा समवायरूप नहीं किन्तु स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध से है और अनादि है स्व प्रकृति और ईश्वर स्वामी है अतः निरवयवत्व भी सृष्टि-रचना में बाधक नहीं।

सं०—ईश्वर की भाँति जीव भी अधिष्ठा मान लें तो क्या दोष।

## विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम् ॥९७॥

प० क्र०—( विशेष कार्येषु ) विशेष कार्यों में ( जीवानाम् ) जीव ( अपि ) भी ( अधिष्ठाता ) है।

भा०—ईश्वर नित्य एवं चेतन है अतः कुछ विशेष कार्य जैसे शरीर इन्द्रियादि का अधिष्ठातृत्व जीवों को है अवश्य परन्तु अल्पज्ञ होने से जीव प्रकृति के अधिष्ठाता नहीं बन सकते।

सं०—वेदोत्पत्ति क्या ईश्वर से हुई है।

## सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥१८॥

प० क्र०—( सिद्धि रूपबोद्धृत्वात् ) सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर से ( वाक्यार्थोपदेशः ) वेदोपदेश होता है।

भा०—सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ होने से ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है इसी भाँति अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषियों द्वारा वेदों का भी उपदेशक है अर्थात् वह नित्य मुक्त स्वरूप होने से वेद वाक्यों के अर्थ को बतलाने वाला है उसमें ही ईश्वर का स्वरूप वर्णन किया है अन्यथा यह सब कुछ हो सकना कदापि संभव न था।

सं०—यदि चेतन को ही अधिष्ठातृत्व है तो जड़ अन्तःकरण में अधिष्ठापन कैसे बन सकता है।

## अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥१९॥

प० क्र०—( तदुज्ज्वलनित्वात् ) पुरुष सामीप्यता से ( अन्त-करणस्य ) अन्तःकरण को ( लोहवत् ) लोह के समान ( अधिष्ठातृत्वम् ) अधिष्ठाता पन है।

भा०—अग्नि के समीप होने से जैसे लोहे में दाहक शक्ति आती है उसी प्रकार जीव की समीपता से जड़ अन्तःकरण में अधिष्ठातृ होता है अर्थात् दूसरे की सत्ता से जड़ में अधिष्ठाता पन है स्वयं नहीं।

सं०—अब अनुमान प्रमाण का विवेचन आवश्यक हो गया क्योंकि:—

## प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥१००॥

प० क्र०—(प्रतिबन्धदृशः) अव्यभिचारी हेतुक ज्ञान वाले को जो ( प्रतिबद्ध ज्ञानम् ) साध्य का ज्ञान होता है वही ( अनुमानम् ) अनुमान कहलाता है।

भा०—जिसमें अर्थ जानने में रुकावट न हो, और किसी से अधिकार न पाई हुई सामान्यरूप से विषय वाली चित्त की जो वृत्ति उसका नाम अनुमान प्रमाण है और इस से अनुमान होने वाले को ज्ञान कहते हैं।

सं०—शब्द प्रमाण किस प्रकार है।

## आप्तोपदेशः शब्दः ॥१०१॥

प० क्र०—(आप्तोपदेशः) सत्य पुरुषों के उपदेश (शब्दः) शब्द प्रमाण हैं।

भा०—वाक्य के अर्थ—ज्ञानरूप जो पौरुषेय बोध अर्थात् ज्ञान

है उस अर्थ को विषय करने वाली चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण होती है।

सं०—प्रमाणोपदेश का फलादेश कहते हैं।

## उभयसिद्धिः प्रमाणात्तदुपदेशः ॥१०२॥

प० क्र०—(उभयसिद्धिः) प्रकृति पुरुष की सिद्धि (प्रमाणात्) प्रमाण होने से (तदुपदेशः) प्रमाणों का उपदेश है।

भा०—पुरुष शब्द से सांख्यवादी जीव और ईश्वर दोनों को ग्रहण करते हैं अतएव जीव ईश्वर, और प्रकृति तीनों की सिद्धि प्रमाणों द्वारा की जाती है अतः प्रमाणों का उपदेश है।

सं०—क्या सब प्रमाणो से उनकी सिद्धि सुलभ है।

## सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥१०३॥

प० क्र०—(सामान्यतोदृष्टात्) सामान्यतो दृष्ट अनुमान द्वारा (उभयसिद्धिः) प्रकृति पुरुष दोनों सिद्ध होते हैं।

भा०—कारण से कार्य का अनुमान कर लेना पूर्ववत्। और कार्य से कारण का अनुमान शेषवत्। तथा सामान्य भांति एक जाति विषय के व्याप्ति ज्ञान से भिन्न जाति विषय का अनुमान होना सामान्य तो दृष्ट है। इसी अनुमान द्वारा रूप ज्ञानादि क्रिया से आंख आदि इन्द्रियों का अनुमान होता है इसी प्रकार जीव ईश्वर और प्रकृति इनकी भी सिद्धि है।

सं०—प्रमाणों से उत्पन्न पौरुषेय बोध-बुद्धि वृत्ति रूप होने से पुरुष निष्ट नहीं होता।

## चिदवसानो भोगः ॥१०४॥

प० क्र०—(भोगः) भोग (चिदवसानः) पुरुषनिष्ट होता है।

भा०—भले बुरे विषय के अनुभव को भोग कहते हैं यह पुरुष-निष्ट अर्थात् उसका अन्त पुरुष में होने से होता है। यद्यपि विषयों की बुद्धि ही अनुभव में लाती है परन्तु उस विषय अनुभव का अन्त बुद्धि में नहीं होता वह जड़ होने से भोगने वाली नहीं किन्तु चेतन ही भोक्ता है अतः समानाकार बुद्धि वृत्ति परत्व भोग पुरुष में ही होता है।

सं०—अकर्त्ता पुरुष में फलदायक भोग नहीं मानना चाहिये।

## अकर्तुरपिफलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥१०५॥

प० क्र०—(अकर्तुः अपि) अकर्त्ता को भी (फलोप भोगः) फल भोग होता है (अन्नाद्यवत्) अन्नादि की भांति।

भा०—बुद्धि का स्वामी पुरुष यद्यपि वृत्ति ज्ञान कर्त्ता नहीं तब भी उसमें बुद्धि कृत वृत्ति ज्ञान रूप फल का भोग सम्भव है जैसे रसोइये का परिपाक कृत्य भोग स्वामी के लिये होता है और इस भांति भोगावसान पुरुष में होता है।

सं०—परन्तु फल तो कर्त्ता को होना चाहिये फिर अकर्त्ता कैसे।

## अविवेकाद्वातत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ॥१०६॥

० क्र०—( अविवेकात् ) अविवेक द्वारा ( तत्सिद्धेः ) कर्त्ता होने से (कर्तुः) कर्त्ता को (वा) ही (फलावगमः) फल प्राप्ति होनी है।

ा०—जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता होता है इसी भांति जीव भी स्वामी सम्बन्ध से बुद्धि का प्रेरक तथा बुद्धि कृत कर्मों का भोक्ता होता है परन्तु असंग होने से पुरुष स्वरूप से प्राकृत कर्मों का कर्त्ता नहीं बुद्धि ही कर्ता है।

ा०—यदि पुरुष स्वरूप से भोक्ता मान लिया जावे तो मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकती।

## नोभयं च तत्वाख्याने ॥१०७॥

० क्र०—(तत्त्वाख्याने) विवेक होने पर ( उभयं, च ) कर्त्ता और भोक्तापन ( न ) नहीं रहते।

ा०—प्रकृति पुरुष के स्वरूप साक्षात, हो जाने पर बुद्धि के सम्बन्ध द्वारा पुरुष के स्वरूप में प्रतीत होने वाले प्राकृत गुणों का कर्त्तापन और भोक्ता नहीं रह जाता अर्थात् प्राकृत गुणों का कर्त्ता और भोक्तापन बुद्धि उपराग युक्त पुरुष में है न कि केवल पुरुष में एवं विवेक के अनन्तर दोनों की निवृत्ति होने से पुरुष मुक्त हो जाता है।

प्र०—जो प्रत्यक्ष प्रतीत न हो उसका अस्तित्व नहीं माना जाता अतः अनुमान से प्रकृति पुरुष की सिद्धि कैसी।

**विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्या-मिन्द्रियस्य । १०८ ॥**

प० क्र०—( अति दूरादेः ) अति दूर आदि दोष ( अपि ) भी ( इन्द्रियस्य ) इन्द्रियों के ( हानोपादानाभ्याम् ) नाश एवं अलग लागू होने से (विषयः) पदार्थ (अविषयः) प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता ।

भा०—जो प्रत्यक्ष विषय न हो वह स्वरूप से भी न हो यह नियम नहीं । वस्तु प्रत्यक्ष में कई कारण हैं अति दूर तथा अति समीप होना अथवा अन्य रोगादि दोष एवं दो पदार्थों में को आवरण अथवा वस्तु व्यवधान होना, मलादि का अनवस्थित अथवा पदार्थ का स्वसदृश पदार्थ में मिल जाना प्रतीत का बाधक होता है अतः प्रत्यक्ष प्रतीत यदि पुरुष प्रकृति के नहीं तो पुरुष का अभाव नहीं माना जावेगा किन्तु अनुमान सिद्धि रहेगा ।

सं०—प्रकृति अथवा पुरुष में प्रत्यक्ष के बाधक कौन कौन से कारण हैं ।

**सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥ १०९ ॥**

प० क्र०—( सौक्ष्म्यात् ) सूक्ष्म होने से ( तदनुपलब्धिः ) प्रकृति पुरुष की प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होती ।

भा०—अति सूक्ष्म होने से प्रकृति और पुरुष की प्रतीत रूप प्रत्यक्षता नहीं होती अर्थात् यह दोनों पदार्थ इन्द्रियों के विषय नहीं सार यह है कि सूक्ष्मता के कारण पुरुष प्रकृति प्रत्यक्ष नहीं।

सं०—यदि अप्रतीत अभाव से मानलें तो क्या दोष होगा।

**कार्य्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥११०॥**

प० क्र०—( कार्य दर्शनात् ) कार्य दर्शन से ( तदुपलब्धेः ) प्रकृति पुरुष दोनों प्रतीत होते हैं।

भा०—यद्यपि पुरुष प्रकृति सूक्ष्म होने से अप्रतीत के कारण है परन्तु उनके सृष्टिरूप कार्य को देखने से प्रकृति पुरुष की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है अतः अभाव तो मान ही नहीं सकते।

सं०—प्रकृति का स्वरूप क्या है।

**वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥१११॥**

प० क्र०—( वादि विप्रति पत्तेः ) वादियों के विरोध के कारण ( तद् सिद्धिः, इति ) प्रकृति की सिद्धि ( चेत ) नहीं होती।

भा०—इस जगत कारण वाद में विवादियों के अनेक मत हैं बौद्ध शून्यवादी है नवीन वेदान्ती ब्रह्म को वैशेषिककार केवल परमाणुओं को जगदेपादान कारण मानते हैं इस परस्पर विरोध युक्त कथन से प्रकृति की सिद्धि नहीं हो सकती।

सं०—यह सन्देह बना ही रहता है। इसलिये-

**तथाप्येकतरदृष्ट्या ऽन्यतरसिद्धेर्नोपलापः ॥११२॥**

प० क्र०-( तथा अपि ) वादियों के विरोध करने पर भी (एक तर दृष्ट्या ) कार्य के आलोचन से ( अन्य तर सिद्धे: ) कारण अनुमान का ( अपलाय: न ) बाधक नहीं।

भा०—यद्यपि सृष्टि के कारण वाद में विवादियों के अनेक विरोध पाये हैं कि जगत का उपादान कारण क्या है। तब भी सृष्टि रूप कार्य के देखने से नित्य कारण का अनुमान हो जाता है अत: प्रकृति जगत का उपादान कारण ही है। शून्य से तो तब जगत् उत्पत्ति सम्भव हो कि यदि जगत शून्य रूप होता। ब्रह्म से जगत जन्यता उसमें विकार उत्पन्न करता है इसलिये वैशेषिककार परमाणुओं को जगत का कर्त्ता मानते हैं वही प्रकृति है केवल नाम भेद हैं न कि सिद्धान्त भेद है।

सं०—प्रकृति के कारणत्व में और भी कहते हैं।

**त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥११३॥**

प० क्र०-(च) और त्रिविध विरोधापत्तेः) तीन प्रकार के विरोध की आपत्ति से प्रकृति का बाध नहीं है।

भा०—तीन प्रकार के विरोध यह हैं (१) यदि प्रकृति को जगत् का उपादान कारण न माना जाय तो श्रुति स्मृति

विरोध आता है और न्याय विरुद्ध इस प्रकार होता है कि संसार में नियम देखा जाता है कि उपादान कारण के समान ही कार्य में गुण आते हैं यह जगत त्रिगुणात्मक है उस दशा में त्रिगुणात्मि का प्रकृति ही इसका उपादान कारण हो सकती है अन्य नहीं यदि न मानो तो न्याय विरुद्ध होता है।

सं०—उत्पत्ति से पूर्व जगत असत् रूप था अतः सत्रूप प्रकृति कारण नहीं हो सकती।

## नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत ॥११४॥

प० क्र०—असदुत्पादः। असत की उत्पत्ति न। नहीं होतीं। नृश्रृङ्ग वत् मनुष्य के सींग समान।

भा०—असत कार्य ( जगत ) की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अपने कार्य में सत्ता होने से व्यापार से उसकी उत्पत्ति होती है अतः कार्य सद्रूप ही होता है और अपने कारण के व्यापार से प्रकट होता है।

सं०—असत्कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। हेतु यह है।

## उपादाननियमात् ॥११५॥

प० क्र०—उपादान नियमात्। उपादान (कारण) की व्यवस्था से असत्यकार्य उत्पन्न नहीं होता।

भा०—जहाँ सत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न हो वह उपादान कारण व्यवस्था या नियम कहलाता है मिट्टी से घट

और तन्तु ( डोरों ) से पट ( वस्त्र ) बन सकेगा न कि मिट्टी से पट और पट से घट बन सकता है। अब यदि कार्य असत् होता तो कुम्हार की तन्तुओं में और तन्तुवाय को ही घट में रुचि होनी चाहिये थी क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व दोनों ही असद्रूप थे परन्तु एक नियम वश भिन्न २ प्रवृत्ति देखे जाने से कार्य असद्रूप नहीं किन्तु सत् रूप ही है।

सं०—कार्यसत् है इसमें एक यह हेतु भी है।

## सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥११६॥

प० क्र०—सर्वदा। सर्वकाल में। सर्वत्र। प्रत्येक कारण से। सर्वासम्भवात्। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होना संभव नहीं। अतः इसलिये भी।

भा०—यदि कार्य असत् हो जावे तो कारण मात्र से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये। असत्कार्यवाद में उत्पत्ति से पूर्व कारण मात्र में प्रत्येक कार्य की असत्रूपता से समानता मानी गई है परन्तु ऐसा नहीं होने से असत्कार वाद तिरस्कार के योग्य हैं।

सं०—इसमें और भी हेतु हैं।

## शक्तस्य शक्यकरणात् ॥११७॥

प० क्र०—शक्तस्य। शक्ति युक्त कारण से। शक्य करणात्। कार्य की उत्पत्ति देखी जाने से कार्य असत् नहीं।

भा०—शक्ति कार्य की अनागत अवस्था कही जाती हैं और शक्ति जिसके आश्रित होती है वह शक्य कहलाता है। जिस२ कारण में जिस जिस कार्य की उद्भूत शक्ति होती है उसीसे वह उत्पन्न होता है दूसरे से नहीं। अर्थात् भाव रूप कारण अभाव रूप कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः कार्य असत् नहीं हो सकता।

सं०—और भी हेतु इसमें हैं।

## कारणभावाच्च ॥११८॥

प० क्र०—च। और। कारण भावात्। कारण के भाव रूप होने से कार्य रूप असत् नहीं हो सकता।

भा०—जैसे मिट्टी से उद्भूत घटादि कार्य मृत्तिकामय होने से और तन्तु (डोरों) से उत्पन्न वस्त्र रूप कार्य भावात्मक होता है अतः असत् अभावात्मक नहीं। अतः कार्य असत नहीं।

सं०—भाव रूप कार्य की उत्पत्ति में दोष यह है।

## न भावे भावयोगश्चेत् ॥११९॥

प० क्र०—भावे। भाव रूप कारण में। भावयोगः। भाव रूप कार्य का सम्बन्ध होता है। चेत्। यदि ऐसा मानो तो (न) नहीं।

भा०—यदि कारण के कर्म से पूर्व कार्य को भाव रूप माना जाय तो जो कार्य "अभी नहीं हुआ" और "अब जो हुआ" इस कार्य मात्र की उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति व्यवस्था न

रहेगी। भाव यह है कि विद्यमान वस्तु को उत्पत्ति और अनुत्पत्ति दोनों का कथन न बन सकेगा।

सं०—यदि ऐसा कहा जावे तो।

## नाभिव्यक्तिनिबन्धनौव्यवहाराव्यवहारौ ॥१२०॥

प० क्र०—अभि व्यक्ति निवन्धनौ। उत्पन्न होने के निमित्त से। व्यवहारा व्यवहारौ। आविर्भाव का व्यवहार तथा अव्यवहार है अतः दोष ( न ) नहीं।

भा०—अभिव्यक्ति अथवा अविर्भाव कार्य की वर्त्तमानावस्था को कहते हैं यह कार्य का आविर्भाव ही उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति का निमित्त है इसलिये दोनों अवस्थाओं में कार्य भाव रूप होता है अतः भाव रूप कार्य की उत्पत्ति में दोष नहीं। कारण कि व्यापार से पूर्व कार्य की वर्त्तमानावस्था नहीं होती किन्तु अनागतावस्था होती है।

सं०—स्वरूप से कार्य अनादि मान लेवे तो प्रकृति के सदृश उसका भी नाश न होगा।

## नाशः कारण लयः ॥१२१॥

प० क्र०—( कारण लयः ) कारण में कार्य का लीन होना। ( नाशः ) उसका नाश माना जाता है।

भा०—कार्य नाश का अर्थ यह है कि निमित्त कारण से अतीतावस्था को प्राप्त कार्य अपने कारण में अभेद सम्बन्ध

से विद्यमान रहा आवे अथवा कार्य नाश या कार्य लीनता कारण में मय हुये कार्य के अदर्शन को कहते हैं अतः कार्य का नाश ध्वंश रूप नहीं अन्यत्र जो ध्वंशाभाव माना गया है वह कारण के असत् रूप भाव से नहीं किन्तु कारण में लय होने के प्रयोजन से है अतः कार्य का नाश नहीं होता किन्तु अपने कारण में लय हो जाता है।

सं०— आविर्भाव से आविर्भाव की उत्पत्ति मानने से तो अनवस्था दोष होता है।

## पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् ॥१२२॥

प० क्र०—अन्वेषणा। सत्कार्य के आविर्भाव को। पारम्पर्यतः। परम्परा से। बीजांकुरवत्। बीज और अंकुर के समान है।

भा०—जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है और यह अनन्त परम्परा है अतः उसमें फिर २ लौट कर वही होने वाली अनवस्था नामक आपत्ति का आरोप नहीं आ सकता। इसी भांति कार्य के आविर्भाव प्रवाह में भी अनवस्था नहीं क्योंकि कारण व्यापार से अनागत अवस्था वाले कार्य का केवल आविर्भाव है न कि उत्पत्ति अतः बीजांकुर न्याय से अनवस्था रहित है।

सं०—इसमें और भी हेतु है।

उत्पत्तिवद्वादोषः ॥१२३॥

प० क०—वा । अथवा । उत्पत्तिवत् । उत्पत्ति के सदृश । अदोषः । अनवस्था दोष नहीं आता ।

भा०—जिस भांति असत्कार्यवाद में अनवस्था की आशंका से कार्योत्पत्ति को कार्योत्पत्ति रूप माना है इसी भांति सत्कार्यवाद में कार्य आविर्भाव का आविर्भाव भी कार्य आविर्भाव रूप है भिन्न नहीं । अतः कार्य की उत्पत्ति की उत्पत्ति को कार्य के आविर्भाव रूप मानने में अनवस्था दोष नहीं आता ।

सं०—महदादिकों के साधर्म्य क्या हैं कहते हैं

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ॥१२४॥

प० क०—हेतुमत । कारण से उद्भूत । लिंगम् । महतत्व से पंचभूत पर्यन्त कार्य । अनित्यम् । नाशवान । अव्यापि । एक देशी । सक्रिय । क्रिया वाला । अनेकम् । बहुत । आश्रितं । अपने अव्यवों के आश्रित रहने वाला है ।

भा०—कार्य मात्र कारण उत्पत्ति आदि धर्मों वाला होने से जो उस २ धर्म वाले हैं उनकी परस्पर समानता है क्योंकि वह कारण से उत्पन्न होने वाले, नाशवान, एक देशी क्रियाशील और बहुत प्रकार के अपने अवयवों के सहारे हैं ।

सं०—प्रकृतिरूप कारण महतत्वादि कार्यों से भिन्न होता है अतः साधर्म्य की असिद्धि है।

## आञ्जस्याद भेदतो वा गुण सामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥१२५॥

प० क्र०—आञ्जस्यात्। कार्य के अन्वय व्यतिरेक से। वा। अथवा गुण सामान्यादेः। सुख दुःखादि धर्मों के। अभेदतः। अभेद से। व। और प्रधान व्यपदेशात्। प्रधान शब्द के प्रयोग से। तत्सिद्धिः प्रकृति रूप कारण की सिद्धि मानी जाती है।

भा०—कारण के होने से कार्य का होना अन्वय कहलाता है और कारण के न होने से कार्य के न होने को व्यतिरेक कहा गया है और दोनों का नाम आञ्जस्य है और समानता का नाम गुण सामान्य है। भाव यह है कि कारण के विना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अतएव प्रकृति को महतत्वादि कार्यों का कारण मानना ही ठीक है जो अन्वय व्यतिरेक हेतुक सिद्धि में प्रमाण है।

सं०—कार्य कारण का साधर्म्य कहते हैं।

## त्रिगुणचेतनत्वादि द्वयोः ॥१२६॥

प० क्र०—द्वयोः। कार्य कारण दोनों का। त्रिगुणाचेतनत्वादि। त्रिगुण और अचेतनत्वादि समान है।

भा०—व्यक्त कार्य का नाम है और कारण का नाम अव्यक्त है सत्वादि तीनों गुणों वाला होना, चेतन से भिन्न,

मिलकर कार्य को करना, ग्राह्य रूप होना, प्रत्येक पुरुष के लिये भोग जुटाना, समान अथवा असमान परिणाम वाला होना यह सब कार्य कारण में समान होने से दोनों की समानता है।

सं०—यह सत्वादि गुणों का परस्पर साधर्म्य वैधर्म्य मान लिया जावे तो फिर त्रित्व संख्या की सिद्धि न होगी।

## ीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यवैधर्म्यम् । १२७

प० क्र०—प्रीत्य प्रीति विषादाद्यैः । प्रीति, अप्रीति, विषादादि, धर्मों के भेद से । गुणानाम् । सत्त्वादि गुणों का । अन्योऽन्यं । परस्पर वैधर्म्यं । असमानता है ।

भा०—प्रतिकूल धर्म को वैधर्म्य कहते हैं इसमें प्रीति, अप्रीति विषाद धर्म भेद से सत्वादि गुणों की प्रतिकूलता है अर्थात् हर्ष लाघवता, मिलन, सुख, क्षमा, संतोष आदि सत्व गुण हैं। इसके विपरीत ईर्षा द्वेष निन्दादि रजोगुण और शोक मोह भय आदि तमोगुण है इस भाँति वैधर्म्य से गुणों की त्रित्व संख्या अवाधित रहती है।

सं०—गुणों के साध्यर्म और वैधर्म्म क्या है।

## लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ॥१२८

प० क्र०—गुणानाम् । सत्वादि गुणों का । लघ्वादि धर्मैः लघुतादि धर्मों से ( साधर्म्यं ) समान धर्म ( च ) और ( वैधर्म्यं ) वैधर्म्य होता है ।

भा०—सत्व गुण में लघुता तथा प्रकाश धर्म है। रजोगुण में चलन ( क्रान्ति ) क्रिया है इसी प्रकार गुरुता (भारीपन) और आवरण स्वभाव वाला है वह तमोगुण है। तीनों गुणों का वैधर्म्य और पुरुष के लिये मोक्ष भोगादि जुटाना और एक दूसरे से दब जाना साधर्म्य कहलाता है।

सं०—महतत्वादिकों का हेतु सत्वादि साधर्म्य नहीं होता अतः उनके कार्य रूप होने में कोई प्रमाण नहीं।

**उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत्। १२९**

प० क्र०—घटादिवत्। घट की नाईं। महदादेः महतत्वादि। उभयान्यत्वात्। प्रकृति एवं पुरुष से भिन्न। (कार्यत्वं) कार्यता मिलने से।

भा०—महदादि पुरुप और प्रकृति से भिन्न हैं अतः वह कार्य हैं जैसा घड़ा मिट्टी से पृथक् नहीं क्योंकि घट कहने से मृत्ति का बोध एवं मृत्ति का कहने से घट का बोध नहीं होता इसी भाँति प्रकृति और पुरुष कहने से महतत्वादि का ज्ञान नहीं होता। अर्थात् भोग्य तथा विनाशी पदार्थ कार्य रूप होने से प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न होगा।

सं०—इसमें और भी कारण हैं।

**परिणामात ॥१३०॥**

प० क्र०—परिणामात्। परिछिन्न होने के कारण भी कार्य रूप हैं।

भा०—जेसे घट पट आदि पदार्थ एक देशीय परिच्छिन्न होने से कार्य रूप है उसो भाँति महतत्वादि भी परिमाण वाले होने से कार्य रूप हैं।

सं०—और भी हेतु है।

## समन्वयात् ॥१३१॥

प० क्र०—समन्वयात। प्रकृति के धर्मों की महदादि में साधर्म्यता पाये जाने से वह कार्य रूप हैं।

भा०—समन्वय वहाँ होता है कि जहाँ कारण के गुणों का कार्य में समान रूपता से रहना पाया जावे और इस समन्वय रूप हेतु से महदादिकों की कार्यता प्रमाणित होती है। भाव यह है कि जिस वस्तु को देखो उसी के समान रूप कारण से उत्पन्न होने वाले धर्म का बोध होने से समान रूप वाले कारण से उत्पत्ति माननी पड़ती है।

सं०—और भी हेतु हो सकते हैं।

## शक्तितश्चेति ॥१३२॥

प० क्र०—च। और (शक्तितः इति) सीमिति शक्ति वाले होने से महदादि कार्य रूप ही है।

भा०—कारण की अपेक्षा कार्यों में एक परिमिति शक्ति पाई जाती है इसलिये घटादि बनाने में मृत्ति का प्रयोजन सिद्धि है अतः वह घट कार्य है और उसका मिट्टी से परिमिति सामर्थ्य भी है।

सं०—महदादिकों को कार्य रूप न मानने में हानि ही क्या है।

**तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥१३३॥**

प० क्र०—तद्धाने। महदादिक यदि कार्यरूप न माने जावे तो। प्रकृतिः पुरुषः, वा। प्रकृति अथवा पुरुष रूप मानना पड़ेगा।

भा०—यदि महदादि कार्य रूप न माने जावें तो वह अकार्य रूप होने से प्रकृति या पुरुष माने जावेंगे परन्तु ऐसा ठीक नहीं क्योंकि महदादि नाशवान और प्रकृति पुरुष अविकारी है। अतः महदादि कार्य रूप ही हैं।

सं०—यदि महदादि को प्रकृति पुरुष से भिन्न कार्य रूप न माना जावे तो क्या हानि है।

**तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥१३४॥**

प० क्र०—तयोः। प्रकृति पुरुष से। अन्यत्वे। भिन्न कार्य रूप न मानने से। तुच्छत्वम्। महदादि तुच्छ माने जावेंगे।

भा०—जो प्रकृति पुरुष से भिन्न एवं कार्य रूप भी नहीं वह खरहे के सींग के समान तुच्छ होगा परन्तु उनका तुच्छ मानना उपयुक्त नहीं क्योंकि उनकी सत्ता है अतएव कार्य रूप मानना ही ठीक है।

सं०—महदादि कार्य से प्रकृति रूप कारण का अनुमान होता है।

**कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥१३५॥**

प० क्र०—तत्साहित्यात्। कार्य के सहभाव रूप नियम से। कार्यात्।

महतत्वादि कार्य द्वारा। [illegible] । प्रकृतिरूप उपादान कारण का अनुमान होता है ।।

भा०—जहां पर कार्य होगा वहां पर ही कारण होगा इस कार्य कारण की व्याप्ति को कार्य साहित्य कहते हैं अतः महदादि कार्यों के देखने से प्रकृति रूप कारण की अनुमान द्वारा सिद्ध होती है।

सं०—प्रकृति की अव्यक्त रूपता का निरूपण करते हैं।

## अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिंगात् ॥१३६॥

प० क०—त्रिगुणात् । तीन गुण वाले । लिङ्गात् । चिह्न पाये जाने से । अव्यक्तं । प्रकृति अव्यक्त है।

भा०—व्यक्त कार्य स्थूल और प्रकृति अव्यक्त सूक्ष्म है क्योंकि महतत्व के कार्य सुखादि अनुभव में आते हैं एवं सूक्ष्म होने से प्रकृति के कोई गुण अनुभव गम्य नहीं होते अतः प्रकृति अव्यक्त है।

सं०—यदि प्रकृति अव्यक्त है तो खरहे के सींग के समान वह भी तुच्छ ही होनी चाहिये।

## तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥१३७॥

प० क—तत्कार्यतः । महदादिकों से । तत्सिद्धेः । कारणरूप प्रकृति सिद्ध होती है। अतः अपलापः । वाध न । या न् । नहीं।

भा०—प्रकृति यद्यपि अव्यक्त है पर तुच्छ नहीं क्योंकि महदादि कार्य के दर्शन से ऐसा अनुमान होता है।

सं०—प्रकृति का उपादान कारण होना सिद्ध है परन्तु उस से
से भिन्न पुरुष की तो सिद्धि नहीं पाई जाती।

## सामान्येन विवादाभावाद्धर्म वन्न साधनम् ॥१३८॥

प० क०—धर्मवत्। धर्मसदृश। सामान्येन। सामान्य रीति से
विवादाभावात्। पुरुष में विवाद न होने से। साधनम्।
उसकी सिद्धि। न। आवश्यकता नहीं।

भा०—जिस पदार्थ में साधारण रीति से कोई विवाद नहीं उठता
तो उसके सिद्धि के साधन की अपेक्षा नहीं क्योंकि
अहं प्रतीति के आश्रित सामान्य रूप है। अर्थात्
चैतन्यादि लक्षण से अनुमान करके उसकी सिद्धि
मानती है।

सं०—विशेष रूप से उस पुरुष का कथन करके अब उसे देहादि
से पृथक् प्रमाणित करते हैं।

## शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥१३९॥

प० क०—प्रमान्। पुरुष। शरीरादि व्यतिरिक्त। देहादि से
भिन्न है।

भा०—वह पुरुष प्रकृति से लेकर स्थूल भूतों तक सब से
पृथक है।

सं०—इस प्रतिज्ञा में हेतु भी है।

## संहतपदार्थत्वात् ॥१४०॥

प० क०—संहत पदार्थत्वात् । प्रकृति आदि पदार्थों के लिये अतः पुरुष शरीर से अतिरिक्ति है ।

भा०—प्रकृति पदार्थों का संघात इस पुरुष की शैय्या के समान है अर्थात् जैसे खाट का होना सोने वाले के लिये है उसी प्रकार प्रकृति से लेकर जितने पदार्थ हैं पुरुष के उपभोग के लिये हैं अतः भोक्ता भोग्य से भिन्न ही होता है वही भोक्ता पुरुष है ।

सं०—इसमें और हेतु भी हैं ।

## त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥१४१॥

प० क०—त्रिगुणाहि विपर्य्ययात् । प्रकृति तथा उसके कार्य उस से विरुद्ध होने से पुरुष प्रकृति से पृथक् है ।

भा०—सत्, रज, तम से जो जन्य सुख दुख मोह आदि दुख हैं उनके सर्वथा विरुद्ध नित्य शुद्ध स्वरूप पुरुष प्रकृति से पृथक है ।

सं—और भी हेतु है ।

## अधिष्ठानाच्चेति ॥१४२॥

प० क०—च । और अधिष्ठानात् इति । शरीर का स्वामी होने से भी पुरुष देहातिरिक्त है ।

भा०—रथका चढ़ने वाला रथी जैसे शकट से भिन्न है उसी प्रकार पुरुष शरीराधिष्ठाता होने से देहादि से भिन्न है ।

अर्थात् जड़ शरीर से चेतन पुरुष विरुद्ध धर्म वाला होने से भिन्न है।

सं०—इसमें अनुकूल तर्क यह है कि:—

## भोक्तृभावात् ॥१४३॥

प० क्र०—भोक्तृभावात्। भोक्ता भाव होने से।

भा०—यदि देहातिरिक्त पुरुष भोक्ता न माना जावे तो भोग योग्य पदार्थों की असिद्धि होती है। क्योंकि जड़ प्रकृति के कार्य स्वयं अपने के भोक्ता नहीं। भोक्ता भोग से भिन्न हुआ करता है।

सं०—इसमें यह तर्क है।

## कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। १४४॥

प० क्र०—च। तथा। कैवल्यार्थं। मुक्ति के निमित्त। प्रवृत्तेः। रुचि देखे जाने से पुरुष शरीर से भिन्न है।

भा०—जैसे घोड़ों का चलाने वाला उन्हें प्रेरणा करके चलाता है इसी प्रकार पुरुष जड़ बुद्धि को प्रेरणा करके दुःख की अन्यन्त निवृत्तिः रूप मुक्ति के लिये प्रवृति की ओर रुचि दिलाता है यह प्रवृत्ति शरीर से भिन्न है अतः पुरुष की ओर से मानी जाती है।

सं०—पुरुष का फिर क्या स्वरूप है कहते हैं।

## जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥१४५॥

प० क्र०—जड़ प्रकाशा योगात् । पुरुष में प्राकृत प्रकाश नहीं । किन्तु प्रकाशः । स्वयं प्रकाश है ।

भा०—पुरुष में जो ज्ञान का प्रकाश है कि अन्य पदार्थ से उस में नहीं आया किन्तु स्वतः प्रकाश स्वरूप है इसी से उसे स्वरूप से ही ज्ञान वाला माना गया है ।

सं०—यदि प्रकाश स्वरूप माना जावेगा तो ज्ञान रूप प्रकाश उसका गुण भी मानना होगा ।

## निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥१४६॥

प० क्र०—निर्गुणत्वात् । पुरुष निर्गुण हैं । चिद्धर्मा । ज्ञान गुणवान । न । नहीं ।

भा०—पुरुष में धर्म अथवा धर्मि भाव नहीं माना जा सकता क्योंकि वह निराकार है ज्ञान उसका स्वरूप भूत है गुण रूप नहीं यह ज्ञान गुण ही स्वरूप भूत कहा गया है क्योंकि वह जड़ बुद्धि आदि से भिन्न है ।

सं०—ज्ञान गुण कई प्रकार से प्रतीत होती है ।

## श्रुत्या सिद्धस्य नापलापः तत्प्रत्यक्ष वाधात् ॥१४७

प० क्र०—श्रुत्या सिद्धस्य । श्रुति से पुरुष असंग सिद्ध है उसका । अपलापः छुपाना । न । नहीं । तत्प्रत्यक्ष वाधात् । उस प्रत्यक्ष का बाधक होने से ।

भा०—जैसे कोई यह कहे कि मैं काना हूँ, गोरा हूँ यह देह के रंग

आदि का जानने वाला होता है उसी भाँति में "मैं ज्ञानी हूँ" इसका भी समर्थक है अब यह प्रत्यक्ष भ्रान्तिमय है।

सं०—भ्रान्तिमूलक होने में क्या युक्ति है।

## सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥१४८॥

प० क्र०—सुषुप्त्याद्य साक्षित्वम्। गाढ़ निद्रा की अवस्था का। असाक्षित्वम् साक्षी न हो सकेगा।

भा०—पुरुष को प्रकृति गुणों से ही यदि चेतन मान लें उक्त दशा में सुषुप्ति अवस्था में प्राकृति प्रवृत्ति नहीं रहती उस समय उसका कोई साक्षी नहीं होना चाहिये वहां तो केवल चेतन साक्षी पुरुष ही होता है जिसने जाग कर कहा कि मैं सुख से सोया। यह पुरुष के चेतन होने का प्रमाण है।

सं०—प्रकृति के विरुद्ध भिन्न पुरुष को ज्ञानवान कहकर अब उसकी संख्या कहते हैं।

## जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥१४९॥

प० क्र०—जन्मादि व्यवस्थातः। जन्म की व्यवस्था से पुरुष बहुत्वम् पुरुष ( जीव ) अनेक हैं।

भा०—पुरुषों की दुखी सुखी स्वस्थ अस्वस्थ मरण-जीवन आदि अनेक अवस्थायें होने से उसका अनेक प्रकार का होना सिद्ध होता है। यदि यह एक होता तो जो एक

को रोग होता वही पशु पक्षी कृमि कीट पतंग मनुष्यादि प्राणियों को वही रोग होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं है यही भोगवश उसका नानात्व है।

सं०—उपाधिभेद से अनेक भाव को प्राप्त होना सम्भव है फिर जीव को अनेक मानने से क्या लाभ।

## उपाधि भेदेऽप्येकस्यनानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥१५०॥

प० क्र०—एकस्य। एक पदार्थ का। नानायोगः बहुत से पदार्थों से योग होने से (उपाधि भेदे अपि) इस उपाधि भेद से भी क्रम नहीं बन सकता इस कारण कि आत्याशस्य, इव, घटादिभिः। जैसे घटादि उपाधि एक ही आकाश को भिन्न २ करता है।

भा०—उपाधि भेद से एक ही चेतन नाना भावों को नहीं जा सकता क्योंकि यह भेद भी घटाकाश के ही सदृश है।

सं—यदि घटा काश तुल्य उपाधि मानले तो एक ही चेतन घटाकाश समान नानात्व को प्राप्त हो सकता है तो इस में क्या दोष।

## उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ॥१५१॥

प० क्र०—उपाधि भिद्यते। उपाधि भेद को प्राप्त। तद्वान्। उपाधि वाला। न। नहीं। तु। पूर्व पक्ष के लिये आया है।

भा०—घटाकाश के उदाहरण में आकाश में भेद नहीं आता वह तो एक ही बना रहता है। भेद तो घट रूप उपाधि में

है अतः उपाधि से उत्पन्न भेद एक चेतन में नानात्व ( अनेक पन ) उत्पन्न नहीं कर सकता ।

सं—इसमें दोष भी है ।

## एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः १५२

प० क्र०—एवम् । इसी भांति । एक त्वेन । एक सत्ता से । परि वर्त्त मानस्य । वर्त्तमान पदार्थों के विरुद्ध धर्माध्यासः धर्मों की भिन्न प्रतीति । न । नहीं होनी चाहिये ।

भा०—सब में एक ही चेतन मानने से एक के दुख से सब दुखी और सब के सुख से सब सुखी होने चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता इससे सब शरीरों में एक ही पुरुष नहीं है किन्तु भिन्न २ हैं ।

सं०—अन्तःकरण के भिन्न २ धर्म होने से भिन्नत्व प्रतीत है इससे एकत्व की हानि हीं क्या है ।

## अन्यधर्मत्वेपि नारोपात्तत् सिद्धेरेकत्वात ।१५३

प० क्र०—अन्य धर्मत्वे, अपि । अन्य का धर्म सुख दुख मानने से आरोपात् । चेतन में केवल मान लेने से । तत्सिद्धिः । सुख दुक्खादि पृथक २ रूप से प्रमाणित । न । नहीं हो सकते कारण कि एक त्वात् । अनुभव करने वाला एक त्मा ही है ।

भा०—अन्तःकरण के धर्म हर्ष शोकादि है यदि अन्तःकरण ही पृथक २ माने जावे तो एक चेतन मानने में भिन्न २

सुख दुख की अनुपत्ति न होगी यह कथन भी ठीक न होगा क्योंकि भिन्न २ अन्तःकरण होने पर भी जीव तो एक ही होगा फिर भी भिन्न २ सुख दुखादि ही मानने होंगे न कि एक के दुख से सब दुखी और एक के सुख से सब सुखी होंगे।

स०—भिन्न २ पुरुष मानने से अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों में विरोध आता है क्योंकि श्रुतियां में एक ही ब्रह्म माना है।

## नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥१५४॥

प० क्र०—( अद्वैत श्रुति विरोधः। अद्वैत प्रतिपादिका श्रुतियों में व्याघात् न। नहीं। क्योंकि जाति पारत्वात्। वह श्रुतियाँ चैतन्य जाति मान कर पुरुष को एक ही मानते हैं।

भा०—जहाँ २ वेदों में पुरुष को अद्वैत कहा है वह चेतन जाति मान कर कहा है न कि एक प्रतिपादन करने से अभिप्राय है।

सं०—इसमें युक्ति यह है।

## विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्यातद्रूपम् ॥१५५॥

प० क्र०—(विदित बन्ध कारणस्य) ज्ञानवान की ( दृष्ट्या ) दृष्टि में ( अतद्रूपम् ) एक ही पुरुष अनुभव में है।

भा०—अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियाँ समाधि अवस्था में एकत्व का ही वर्णन करती हैं अतः वह अद्वैत है।

सं०—ईश्वर इस संसार चक्र का चलाने वाला है ।

## व्यावृत्तोभयरूपः ॥ १६० ॥

प० क्र०—( व्यावृत्तो भय रूपः ) पुरुष और प्रकृति के रूप से भिन्न है ।

भा०—इस प्रवाह से अनादि अनन्त सृष्टि का संचालक वह ईश्वर है कि जो प्रकृति पुरुष के स्वरूप से भिन्न है, प्रकृति परिणामी नित्य है अतः केवल सद्रूप है और पुरुष सत्‌चित्‌ है परमात्मा इनसे अनोखा सत्‌चित्‌ तथा आनन्द स्वरूप है अर्थात् दोनों से विशेष लक्षण वाला है ।

सं०—विशेषता यह है ।

## साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम् ॥ १६१ ॥

प० क्र०—( साक्षात्सम्बन्धात् ) स्वामी भाव से वह परमात्मा दोनों का साक्षी है ।

भा०—वह परमेश्वर प्रकृति या पुरुष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु उसका स्वतन्त्र सम्बन्ध है इसे शरीर शरीरी भाव सम्बन्ध भी कहते हैं ।

सं०—परमात्मा की और भी विशेषतायें हैं ।

## नित्यमुक्तत्वम् ॥ १६२ ॥

प० क्र०—( नित्यमुक्तत्वम् ) वह परमात्मा नित्य मुक्त स्वभाव है ।

भा०—परमात्मा का कोई स्वामी नहीं और वह किसी के बन्धन में नहीं ।

सं०—परमात्मा नित्य मुक्त क्यों है ।

## औदासीन्यञ्चेति ॥ १६३ ॥

प० क्र०—'इति' शब्द हेतु अर्थक है । ( औदासीन्यं ) वह परमात्मा उदासीन है ( च ) आप्त काम होने से नित्य युक्त है ।

भा०—परमात्मा किसी वस्तु का भोग नहीं करता इसी कारण वह उदासीन है इसीलिये नित्य मुक्त भी है अर्थात् फल कामना न होने से बन्धन में नहीं आता ।

सं०—नित्यमुक्त ईश्वर जगत कर्त्ता क्योंकर हो सकता है ।

## उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् चित्सान्निध्यात् ॥ १६४ ॥

प० क्र०—( उपरागात् ) प्रकृति के साहचर्य से उसमें ( कर्तृत्व ) कर्त्तापन है और प्रकृति में ( चित्सानिध्यात् ) उस परमात्मा की प्रेरणा से क्रिया है ।

भा०—ईश्वर निमित्त और प्रकृति उपादान कारण अर्थात् ईश्वर प्रयोजक होने से गौण कर्त्ता और प्रकृति में मूल क्रिया है❀ जड़ प्रकृति को क्रियाशीलत्व परमात्मा सन्निधि से होता है ।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते सांख्य दर्शने भाषाभाष्ये

प्रथमाध्यायः ॥ समाप्तः ॥

---

❀ प्रकृतेः क्रियमाणानि: गुणैः कर्माणि सर्वसः । गी० ३ । २७ मे भी यही भाव है ।

* ओ३म् *

## ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रारंभ्यते ॥

—————:-o-:—————

सं०—उदासीन ईश्वर का सृष्टि रचना में तो कथन हुआ अब प्रथम प्रकृति जगत् रचना में प्रयोजन बतलाते हैं।

### विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वाप्रधानस्य ॥ १ ॥

प० क्र०—(विमुक्त मोक्षार्थं) पुरुष निर्वाण के निमित्त (वा) अथवा (स्वार्थं) अपने अधिकार पूर्ति के लिये।

भा०—प्रकृति जगत् का उपादान कारण दो प्रयोजनों से है प्रथम यह कि जिन पुरुषों के चित्त-गुणाधिकार बीत गये उनसे प्रकृति सम्बन्ध नहीं और उनकी मुक्ति हो जाती है। दूसरा भोग और मोक्ष को पूरा करने में प्रकृति का स्वाधिकार है उसकी समाप्ति पर जगत् रचना होती है।

शं०—मोक्ष निमित्त से प्रकृति में जगत् कर्त्तापन मिलता है अर्थात् एक वार सृष्टि रचने से वह प्रयोजन सिद्ध होने पर फिर सृष्टि की आवश्यकता नहीं होती।

### विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ २ ॥

प० क्र०—(विरक्तस्य) विरक्त पुरुष को (तत्सिद्धेः) मोक्ष उपलब्धि होती है अतः प्रकृति से अनेक वार रचना हुई मिलती है।

भा०—अनेक जन्म में संचित शुभ कर्मों से चित्त शुद्धि से इस लोक और परलोक के विषयों की इच्छा सर्वथा निवृत्त हो जाती है तब पुरुष मुक्त होता है अतः प्रकृति वार २ सृष्टि रचना में प्रवृत्ति होती है।

सं०—सृष्टि वार वार क्यों होती है।

## न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्वात् ॥ ३ ॥

प० क्र०—(अनादि वासनायाः) अनादि वासनाओं के बन्धन से (श्रवण मात्रात्) केवल श्रवण से (तत्सिद्धिः) पर वैराग्य सिद्धि (न) नहीं होती।

भा०—अनेक जन्मों में किये शुभ कर्मों के पुण्य से वेदादि सत्शास्त्रों की श्रवण की इतिश्री होती है अतः एक बार सृष्टि में पर वैराग्य को सिद्धि न होने से प्रकृति की जगत् रचना का प्रयोजन फिर २ बना रहता है।

सं०—सृष्टि प्रवाह में मुक्ति यह है।

## बहुभृत्यवद्वा प्रत्येक ॥ ४ ॥

प० क्र०—(वा) अथवा (बहुभृत्यवत) अधिक कुटुम्ब की भांति (प्रत्येकम्) प्रत्येक को पालन करने के सदृश फिर २ सृष्टि होती है।

भा०—जिस प्रकार किसी गृहस्थ के सम्बन्धी या सेवक अधिक हों और उन्हें पालने में प्रयोजन सिद्धि मानता हो

इसी भांति प्रकृति भी अनेक मुमुक्षुओं को निर्वाण देने में प्रयोजन सिद्धि करती है अतः वार वार सृष्टि होती है।

सं०—प्रकृति की निरन्तर रचना में कोई वाधा नहीं।

## प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥ ५ ॥

प० क्र०—( प्रकृति वास्तवे ) प्रकृति के उपादान कारण होने में (च) और ( पुरुषस्य ) ईश्वर की ( अध्यास सिद्धिः ) अधिष्ठान रूप से उपादान कारणता प्रमाणित होती है।

भा०—ईश्वर में जो उपादान कारणपन प्रतीत होता है वह प्रकृति के अपेक्षा से है अन्यथा प्रकृति ही जगदेवादान कारण है अतः ईश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है।

सं०—प्रकृति के उपादान कारण होने में और भी हेतु है।

## कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥

प० क्र०—( कार्यतः ) महदादि कार्यों में देखने से ( तत्सिद्धेः ) प्रकृति उपादान कारण ही प्रतीत होती है।

भा०—प्रकृति में परिणामित्व धर्म पाये जाने से महत्वादि भी परिणामी है अतः प्रकृति ही उपादान कारण हो सकती है ईश्वर अपरिणामी होने से परिणामित्व धर्म से बाहर है।

सं०—प्रकृति अपनी शक्ति से पूर्ति करती हुई बद्ध के समान मुक्त पुरुष के लिये सृष्टि रचती है।

## चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥ ७ ॥

प० क्र०—( कण्टक मोक्षवत् ) काटे के छूटने के समान ( चेतनोद्देशात् ) चेतन की प्रेरणा से (नियमः) नियम पाये जाने से ।

भा०—जैसे शासक की आज्ञा से दण्डनीय पुरुष के लिये मूर्त्ता दण्ड का हेतु बनती है और अदण्डनीय के लिये उदासीन कार्य रहता है इसी प्रकार चेतन की इच्छा से बद्ध और मुक्त के प्रति नियम है:—

सं०—जिसकी इच्छा से ही प्रकृति की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती हैं उसी को उपादान कारण क्यों माना जावे ।

## अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥८॥

प० क्र०—( अयोदाहवत् ) अग्निमय लोह के समान (अन्ययोगे) प्रकृति सम्बन्ध होने से (अपि) ही (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्ध है ( साक्षात ) केवल (न) नहीं ।

भा०—अग्नि के योग से लोहा दाहक शक्ति ग्रहण करता है इसी प्रकार प्रकृति सम्बन्ध से ईश्वर से कर्त्तापन है उपादान कारणत्व नहीं।

सं०—सृष्टि का स्वरूप बतलाते हैं ।

## रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥९॥

प० क्र०—(राग विरागयोः) प्रकृति तथा ईश्वर के (योगः) सम्बन्ध को (सृष्टि) कहते हैं ।

भा०—प्रकृत भोग है ईश्वर ईश्वर इस भोग से रहित है अतः स्व-स्वामि भाव और प्रेर्य्य प्रेरक भाव सम्बन्ध सृष्टि का हेतु (सृष्टि) कहलाता है।

सं०—सृष्टि उत्पत्ति का क्रम यह है।

## महदादिक्रमेण पंचभूतानाम् ॥१०॥

प० क्र०-(महदादिक्रमेण) महदादिक्रमे से (पंचभूतानाम्) पांच भूतों की सृष्टि है।

भा०—प्रकृति से महतत्व, महतत्व से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्रा और पंचतन्मात्रा से पांच भूत होते हैं।

सं०—प्रकृति और महदादिकों की सृष्टि में क्या अन्तर है।

## आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥११॥

प० क्र०-(एषाम्) महदादि की (आरम्भ) सृष्टि (आत्मार्थः) अपने लिये (न) नहीं (सृष्टेः) प्रकृति सृष्टि (आत्मा अर्थत्वात्) अपने लिये होनेसे दोनों सृष्टियों का भेद है।

भा०—प्रकृति सृष्टि के स्वार्थ और परार्थ दो कार्य हैं। महदादिक केवल परार्थ के लिये ही अर्थात् जीवों के भोग पूर्ति के लिये है।

सं०—दिशा और काल की उत्पत्ति किस से है।

## दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥१२॥

प० क्र०-(आकाशादिभ्याः) आकादि से (दिक्कालौ) दिशा और काल होते है।

भा०—यह दिशायें भूतों से उत्पन्न हुई हैं यह अनित्य दिशा और काल का वर्णन है जो नित्य दिशा तथा काल है वह प्रकृति के गुणों से अभिन्न है।

सं०—महदादि का लक्षण एवं क्या २ कार्य हैं।

## अध्यवसायो बुद्धिः ॥१३॥

प० क्र०—(अध्यवसायः) निश्चय व्यापार को (बुद्धिः) महतत्व कहते हैं।

भा०—पुरुष मात्र की कार्य में प्रवृत्ति है अतः निश्चयात्मक व्यापार महतत्वात्मिक है अर्थात् वह सात्विक राजस और तामस भेद वाला है।

सं०—महतत्व का कार्य क्या है।

## तत्कार्यं धर्मादि ॥ १४ ॥

प० क्र०—(धर्मादि) धर्म आदि (तत्कार्यं) महतत्व का कार्य है।

भा०—धर्म ज्ञान वैराग्य आदि सात्विक बुद्धि के कार्य हैं।

सं०—अधर्म के क्या कार्य हैं ?

## महदुपरागाद्विपरीतम् ॥१५॥

प० क्र०—( महत् ) महतत्व ( उपरागात् ) रज और तम के योग से ( विपरीतम् ) विरुद्ध है (उल्टा है)

भा०—बुद्धि से सत, रज या तम का जब योग होता है तो उस से अधर्म, अज्ञान, वैराग्यादि रहित होना अनीश्वर वादादि विपरीत गुण होते हैं।

सं०—अहंकार का क्या लक्षण है।

**अभिमानोऽहंकारः ॥१६॥**

प० क्र०-(अभिमानः) 'मैं मैं' इस वृत्ति को (अहंकारः) अहंकार कहते हैं।

भा०—मैं हूँ, मेरा है, यह अहंकार की वृत्ति सत, रज तथा तम भेद से है।

सं०—अहंकार का क्या कार्य है ?

**एकादश पंच तनमात्रं यत् कार्यम् ॥ १७ ॥**

प० क्र०-(एकादश) ग्यारह इन्द्रियां और ( पंचतन्मात्रम् ) पंच-तन्मात्र यह सोलह ( तत्कार्यम् ) अहंकार के कार्य हैं।

भा०—मेरा ही अधिकार है, मैं ठीक कहता हूँ। मेरा साहित्य है यह 'अहं' 'हुं' सब अहंकार है इसका जिस २ इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है उसी में का मोह व्यापार अस्मिता उत्पन्न करता है।

सं०—किस अहंकार से इन्द्रियां उद्भूत हुई हैं।

**सात्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् । १८**

प० क्र०-( वैकृतात् ) सात्विक ( अहंकारात् ) अहंकार से ( एकादशकं) ग्यारह इन्द्रियां ( प्रवर्तते ) उत्पन्न होती हैं अतः (सात्विकं) सात्विक अहंकार सृष्टि है।

भा०—ग्यारह इन्द्रियां सात्विक अहंकार के कार्य हैं शब्दादि

पंचतन्मात्र तामस अहंकार के और रजोगुण दोनों का संचालक है।

सं०—ग्यारह इन्द्रियाँ बतलाते हैं।

## कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तर[illegible] ॥१९॥

प० क्र०—( कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः ) कर्म और ज्ञानेन्द्रिय और ( आन्तरम् ) मन ( [illegible] ) ग्यारह इन्द्रियां हैं।

भा०—जीव के ज्ञान और कर्म के साधन जिसके द्वारा हों वह इन्द्रियां हैं इसी कर्म भेद से कर्मेन्द्रिय और ज्ञान भेद से ज्ञानेन्द्रियां हैं।

सं०—इन्द्रियों से क्या २ प्रत्यक्ष होता है वह भूतों का कार्य मानना चाहिये।

## अहङ्कारिकत्वश्रुतेर्नभौतिकानि ॥२०॥

प० क्र०—(अहंकारिकत्वश्रुतेः) अहंकार का कर्य होने से (भौतिकानि) इन्द्रियां भौतिक (न) नहीं।

भा०—इन्द्रियां भूतों से पूर्व उत्पन्न हुई हैं अतः वह भूतों के कार्य नहीं।

सं०—परन्तु कहीं २ तो इन्द्रियां भौतिक कही गई है।

## देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥२१॥

प० क्र०—(देवतालयश्रुतिः) दिव्य गुण वाले अग्नि में लय का होना (आरम्भकस्य) कारण में लय होने से (न) नहीं।

भा०—उपादन कारण में कार्य लय होते हैं नियम नहीं अन्य में अन्य भी प्रवेश लय देखा जाता है।

सं०—क्या इन्द्रियां नित्य हैं।

## तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥२२॥

प० क्र०—(तदुत्पत्तिश्रुतेः) इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं (च) और (विनाशदर्शनात्) उनका नाश भी है अतः नित्य नहीं हो सकतीं।

भा०—इस उत्पत्ति धर्म के होने से इन्द्रियाँ अनित्य हैं और यहाँ पुनरुक्ति क्यों की गई जब सामान्यतया इनकी प्रकृति मूलक उत्पत्ति मानी गई है।

सं०—इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं।

## अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥२३॥

प० क्र०—(इन्द्रियं) आँख आदि (अतीन्द्रिय) प्रत्यक्ष नहीं (भ्रान्ता नाम, अधिष्ठानम्) इन्द्रियों को गोलक रूप मानना भ्रम है।

भा०—शब्दादि प्रत्यक्ष के असाधारण कारण इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं किन्तु प्रत्यक्ष रूप कार्य से अनुमान है।

सं०—एक इन्द्रिय को उपाधि भेद से बहुत मानकर व्यवहार सिद्धि का कथन करते हैं।

## शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥२४॥

प० क्र०—(शक्ति भेदे) शक्तियों के भेद स्वीकार से (अपि) भी (भेद सिद्धौ) इन्द्रियों के भेद की सिद्धि है अतः (एकत्वम्) एक ही इन्द्रिय (न) नहीं।

भा०—प्रत्येक विषय का भिन्न २ इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है अतः एक ही इन्द्रिय सब विषयों का आश्रय नहीं।

सं०—एक अहंकार से अनेक इन्द्रियों की कल्पना ठीक नहीं।

## न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥२५॥

प० क०—( प्रमाण दृष्टस्य ) प्रमाण सिद्धि भेद का ( कल्पना विरोधः ) कल्पना से विरोध ( न ) नहीं।

भा०—जहाँ वस्तु भेद प्रमाण सिद्ध हो वहाँ उनकी एक कल्पना प्रत्यक्ष बाधक है इसी प्रकार एक अहंकार से अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं।

सं०—मन की क्या विशेषता है।

## उभयात्मकं मनः ॥२६॥

प० क०—( मनः ) मन ( उभयात्मकम् ) ज्ञान और इन्द्रिय रूप है।

भा०—मन ज्ञान शक्ति भी है क्रिया शक्ति भी इसीलिये यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों हैं।

सं०—अहंकार से पचतन्मात्रा तथा इन्द्रिय रूप कार्य की उत्पत्ति में क्या हेतु है।

## गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत ॥२७॥

प० क०—( अवस्थावत् ) अवस्था के समान ( गुणपरिणाम-भेदात् ) गुणों के परिणाम भेद से ( नानात्वम् ) एक ही अहंकार से अनेक कार्य होते हैं।

भा०—जैसे एक ही देह की अनेक अवस्थायें सत्वादि गुणों से हैं इसी प्रकार गुणभेद से एक अहंकार अनेक कार्यों की उत्पत्ति में कोई वाधा नहीं आती।

सं०—अब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के व्यापार विषय को कहते हैं।

## रूपादि रसमलान्तउभयोः ॥२८॥

प० क०—( उभयोः ) दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ ( रूपादिरसमलान्तः ) रूप से लेकर मलोत्सर्ग पर्यन्त विषय है।

भा०—प्रत्येक इन्द्रिय के भिन्न विषय और कार्य हैं अर्थात् रूपादिकों का ग्रहण चक्षुरादि इन्द्रियों का असाधारण व्यापार है और वाणी आदि कर्मेन्द्रिय का व्यापार है।

सं०—इन्द्रियों को यदि द्रष्टा माना जावे तो क्या दोष।

## द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥२९॥

प० क०—( आत्मनः ) आत्मा के ( द्रष्टृत्वात् ) द्रष्टृत्वादि धर्म धर्म तथा ( इन्द्रियाणाम् ) इन्द्रियों का ( करणत्वम ) साधन धर्म है।

भा०—इन्द्रिय प्रकाशक-सात्विक होती हैं परन्तु जड़ होने से कारण दृष्य नहीं हो सकते किन्तु जीवात्मा विशेष ज्ञान के करण—( ज्ञान ) हैं।

सं०—महतत्व, अहंकार, और मन का असाधरण व्यापार निरूपण करते हैं।

## त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥३०॥

प० क०—( त्रयाणाम् ) तीनों का ( स्वालक्षण्यम् ) भिन्न २ व्यापार हैं :

भा०—निश्चय करना बुद्धि का, और अभिमाव करना अहंकार का मन का संकल्प विकल्प का असाधारण काम है।

सं०—वाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों का यह व्यापार है।

## सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ ३१ ॥

प० क०—( प्राणाद्याः ) प्राण आदि ( पंच ) पांच ( वायवः ) वायु सामान्य करण वृत्तिः ) समस्त इन्द्रियों का काम है।

भा०—प्राण, समान, उदान, व्यान और अपान पाँच प्राण तथा हाथ कान आँख अदि ग्यारह इन्द्रियों का साधारण व्यापार है।

सं०—इन्द्रियों के साधारण व्यापार में क्रमाक्रम।

## क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥ ३२ ॥

प० क०—(इन्द्रियवृत्तिः) इन्द्रियों का काम (क्रमशः) क्रम (च) और (अक्रमशः) अक्रम से है।

भा०—चक्षुआदि इन्द्रियां क्रमशः व्यापार करती है वह क्रम और अक्रम दोनों प्रकार से होते हैं।

सं०—बुद्धि वृत्तियों को कहते हैं।

## वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(वृत्तयः) बुद्धि वृत्तियां (पञ्चतय्यः) पांच प्रकार की हैं वह (क्लिष्टाक्लिष्टाः) क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो हैं।

भा०—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति यह बुद्धि वृत्तियां इनमें राजस वृत्तियां क्लिष्ट और सात्विक वृत्तियां अक्लिष्ट कहलाती हैं।

सं०—सर्व वृत्तियों के विरोध काल में पुरुष की अवस्था का कथन।

## तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागस्वस्थः ॥ ३४ ॥

प० क्र०—(तन्निवृत्तौ) प्रमाण आदि वृत्तियों के दूर होने पर (उपशान्तोपरागः) वृत्ति सम्बन्ध रहित पुरुष (स्वस्थ.) स्वस्थ होता है।

भा०—निर्भ्रम मनुष्य निश्चिन्त रहता है उसका मन चित्त बुद्धि सात्विक अहंकार युक्त सदैव प्रसन्न और हर्षित रहता है।

सं०—इसमें यह उदाहरण है।

## कुसुमवच्च मणिः ॥ ३५ ॥

प० क्र०—(च) जैसे (कुसुमवत) जयाकुसुम की दूरी से (मणिः) मणि अपने रूप में स्फटिक रहेगी।

भा०—गुड़हल के फूल का श्वेतमणि के पास होने से लालिमा मणि में थी यदि वह फूल दूर हो जावे तो श्वेत कान्ति

मणि स्फटिकता युक्त धर्म युक्त होगा। इसी भांति बुद्धि में प्रतीत होने वाले राग द्वेष निवृत्ति से पुरुष शुद्ध होजाता है।

सं०—कूटस्थ पुरुष को इन्द्रियों की प्रवृत्ति कैसी ?

## पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(अदृष्टोल्लासात्) अदृष्ट निमित्त से (करणोद्भवः) इन्द्रियों की प्रवृत्ति (अपि) भी (पुरुषार्थं) पुरुष अर्थ के लिये।

भा०—प्रकृति के सदृश इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रयोजन भी पुरुष अर्थ निमित्त ही है।

सं०—जड़ इन्द्रियां स्वतः ही पुरुष प्रयोजन निमित्तक कैसे प्रवृत्त होती हैं।

## धेनु वद्वत्साय ॥ ३७ ॥

प० क्र०—(वत्साय) बछड़े के लिये जैसे (धेनुवत) गाय के समान।

भा०—जैसे गाय की बछड़े के लिये प्रवृत्ति पाई जाती है इसी भांति इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं।

सं०—इन्द्रियों के भेद कहते हैं।

## करणंद्वादशविधमवान्तरभेदात् ॥ ३८ ॥

प० क्र०—(अवान्तर भेदात) वाह्य और अवान्तर भेद से (करणम्) इन्द्रियां (त्रयोदशम्) तेरह हैं।

भा०—पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रियां तथा मन बुद्धि अहंकार भेद से तेरह हैं।

सं०—इन्द्रियों में करणत्व व्योहार में क्यों होता है।

**इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात्कुठारवत् ॥ ३९**

प० क्र०—(कुठारवत) कुठार सदृश (साधकतमत्व आदि०) ज्ञान के अधिक साधन से (इन्द्रियेषु) इन्द्रियों में करणत्व का व्यवहार है।

भा०—छेदने में साधक होने से छेनी को करण कहा है। अतएव ज्ञान साधक होने से इन्द्रियां करण हैं, करण व्यापार और असाधारण कारण वाला होता है।

सं०—बुद्धि को प्रधान दिखलाते हैं।

**द्वयो प्रधानं मनोलोकवद्भृत्यवर्गेषु ॥ ४० ॥**

प० क्र०—(भृत्येषु लोकवत्) नौकरों में स्वामी के समान (द्वयोः) वाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों में (मनः) बुद्धि (प्रधान) है।

भा०—मनन धर्मवान् होने से बुद्धि को मन कहते हैं और जैसे मंत्री आदि में राजा मुख्य है इसी प्रकार बुद्धि इन्द्रियों में है।

सं०—बुद्धि के मुख्य होने में हेतु कहते हैं।

**अव्यभिचारात ॥ ४१ ॥**

प० क्र०—(अव्यभिचारात्) सर्व इन्द्रियों में व्यापक होने से बुद्धि मुख्य है।

भा०—बुद्धि को सब से महत्वता दी है।

सं०—और भी हेतु है।

## तथा शेषसंस्काराधारत्यात् ॥ ४२ ॥

प० क्र०—( तथा ) और ( अशेष संस्कार ) सब संस्कारों का आश्रय है।

भा०—बुद्धि से ही समस्त ज्ञान संस्कार होते है अतः बुद्धि मुख्य है।

सं०—हेतु कहते हैं।

## स्मृत्यानुमानाच्च ॥ ४३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (स्मृत्या) स्मृति से ( अनुमानात् ) बुद्धि की श्रेष्ठता है।

भा०—पूर्व अनुभव का स्मरण रूप वृत्ति बुद्धि ही है अतः संस्कार का आश्रिय बुद्धि प्रतीत होती है।

सं०—यदि बुद्धि करण मानी जावे तो क्या दोष है।

## सम्भवेन्न स्वतः ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(स्वतः) बुद्धि में स्वयं करणत्व ( सम्भवेत ) सम्भव ( न ) नहीं।

भा०—विना ज्ञानेन्द्रिय के बुद्धि में स्वतः करणत्व नहीं सिद्ध होता अतः अन्य करण मानने चाहिये।

सं०—इन्द्रियों के मुख्य गौरव भाव मानने में हेतु।

## आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥४५॥

प० क्र०—( क्रिया विशेषात् ) व्यापार के लिये (गुणप्रधान भावः) इन्द्रियों का गौणमुख्य भाव, (अपेक्षितः) आपेक्षित है।

भा०—ज्ञानेन्द्रियों में मुख्य और गौण भाव अपेक्षाकृत है दश- दर्शेन्द्रिय की अपेक्षा मन प्रधान है मन से अहंकार, अहंकार से बुद्धि प्रधान है।

सं०—प्रवृत्ति का निमित्त क्या है।

## तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ ४६

प० क्र०—( लोकवत् ) करण की स्वामी के लिये लोक में चेष्टा देखी जाती है तथैव (तत्कर्मा ० × ) जीवों के अदृष्ट से (तदर्थं) पुरुष प्रयोजन के लिये (अभिचेष्टा) इन्द्रियों की चेष्टा है।

भा०—जीवों के अदृष्ट निमित्त से भोगों को पूरा करने के लिये इन्द्रियों की चेष्टा होती है अर्थात् इन्द्रियों की चेष्टा होती है।

सं०—बुद्धि की प्रधानता दर्शाते हैं।

## समानकर्मयोगे मनसः प्राधान्यं लोकवल्लो- कवत् ॥ ४७ ॥

प० क्र०—( लोकवत् ) लोक के समान (समान कर्म योगे) कर्म सदृश होने से ( बुद्धेः ) बुद्धि की ( प्रधान्यम् ) मुख्यता है।

—लोग जिस प्रकार राजा को मुख्य मानते हैं इसी प्रकार इन्द्रियों में राजा बुद्धि है यह सब इन्द्रियों को क्रमशः शासन करती है।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते सांख्य दर्शने भाषा-भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

❀ ओ३म् ❀

# ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥

सं०—मुक्ति और उसके साधनों को कहते हैं।

## अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥ १ ॥

प० क्र०—( अविशेषात् ) सूक्ष्म भूतों से ( विशेषारम्भः ) स्थूल भूतों का जन्म होता है।

भा०—पंचतन्तात्राओं का नाम अविशेष है इसी को सूक्ष्मभूत कहते हैं और सात्विक परिणाम भेद से इन्हें विशेष कहते हैं अर्थात् परिणाम भेद रहित सूक्ष्म भूतों से सात्विक परिणाम भेद वाले स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है।

सं०—स्थूल भूतों से स्थूल शरीर होते हैं।

## तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥

प० क्र०—( तस्मात् ) स्थूल भूतों से ( शरीरस्य ) स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है।

भा०—स्थूल भूतों से स्थूल शरीर का जन्म है।

सं०—लिङ्ग शरीर का वर्णन यह है:—

## तद्बीजात् संसृतिः ॥ ३ ॥

प० क्र॰—( तदबीजात ) स्थूल शरीर के निमित्त भूत लिङ्ग शरीर से (संसृति) जीव का आवागमन होता है।

भा॰—शुभाशुभ कर्मवासना सहित शुद्र सत्रह तत्वों वाला लिङ्ग शरीर होता है। इसी से जीव आता जाता है।

सं॰—महदादि के शरीरारम्भ को कहते हैं।

## अविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ॥ ४ ॥

प॰ क्र॰—(अविवेकात्) विवेक ज्ञानतत्व (च) ही (अविशेषाणाम्) महत आदि तत्वों का (प्रवर्त्तनम्) शरीरोत्पत्ति तक प्रकृति है।

भा॰—जब तक प्रकृति पुरुष का ज्ञान नहीं तभी तक महदादि शरीर भोक हेतु माने गये हैं विवेक हो जाने पर सूक्ष्म भूत प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है अर्थात् विवेक होने पर जीवन मरण धर्म रहित जीव हो जाता है।

सं॰—विवेक ज्ञान होने पर तत्वों से शरीरात्मा नहीं यह कैसे जाना जा सकेगा!

## उपभोगादितरस्य ॥ ५ ॥

प॰ क्र॰—(इतरस्य) अविवेकी पुरुष (उपभोगात्) भोग से।

भा॰—जिन्हें प्रकृति पुरुष का ज्ञान नहीं उनके भोग समाप्त नहीं होते। भोग निवृत्ति केवल विवेक से होते हैं और बिना भोग के शरीर नहीं मिलते।

सं०—जन्म मरण में जीवको सुख दुख का भोग होता है अथवा नहीं।

## सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥

प० क०—( सम्प्रति ) आवागमन में ( द्वाभ्याम् ) सुख दुख से (परिमुक्तः) रहित होता है।

भा०—सुख दुख का कोई साधन संसृत काल में न होने से जीव को सुख दुख का भोग नहीं होता।

सं०—स्थूल तथा सूक्ष्म लिङ्ग शरीर में भेद कहते हैं।

## मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ॥ ७ ॥

प० क०—( स्थूलं ) स्थूल शरीर (प्रायशः) प्रायः (मातापितृजः) योनिज होते हैं (तथा) और ( इतरत् ) सूक्ष्म शरीर (न) योनिज (नहीं)।

भा०—स्थूल शरीर योनिज, सूक्ष्म अयोनिज होते हैं सृष्टि की आदि में स्थूल शरीर भी मुक्तात्माओं के अयोनिज हुये।

सं०—उभय शरीरों में सुखादि भोग का आश्रय क्या है ?

## पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥ ८ ॥

प० क०—(एकस्य) लिङ्ग शरीर से ( भोगात् ) सुखादि भोग न मिलने से (पूर्वोत्पत्तेः) लिङ्ग शरीर ( तत्कार्य्यत्वं ) भोगाश्रय है (इतरस्य न) स्थूल शरीर के नहीं।

भा०—पूर्वोत्पत्ति शरीर सृष्टि के आदि में हुये अर्थात् जो शरीर

में सुख दुख भोग अर्थात् से भोग का आश्रय शरीर है।

सं०—लिंग शरीर किसे कहते हैं।

**सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥ ९ ॥**

प० क्र०—(लिङ्गम) लिंग शरीर (सप्तदश) सत्रह तत्व का होता है और वह (एक) प्रत्येक जीव का भिन्न होता है।

भा०—सब स्थूल शरीरों में लिंग शरीर होता है अतः पशु पक्षी पक्षी आदि योनियों में भोग भी समान है।

सं०—भोग की समानता कहते हैं।

**व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥ १० ॥**

प० क्र०—(कर्म विशेषात्) जीवों के कर्म भिन्न होने से (व्यक्ति भेदः) लिंग शरीरों का भेद है।

भा०—अदृष्ट भेद से लिङ्ग शरीर का भेद होजाने से भोगों की समानता नहीं।

सं०—लिङ्ग शरीर से भोग साम्य व्यवहार है स्थूल से क्यों नहीं।

**तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात तद्वादः ॥ ११ ॥**

प० क्र०—(तदधिष्ठानाश्रये) बुद्धि सत्व के आश्रय लिंग शरीर है (तद्वादात) शरीर व्यवहार प्राप्ति से (देहे) शरीर में (तद्वादः) शरीर व्यवहार है।

भा०—शुभाशुभ कर्मों का आश्रय बुद्धि सत्व है उसके आश्रित भूत लिंग शरीर में शरीर व्यवहार है क्योंकि सुखादि भोग का आश्रय शरीर स्थूल शरीर में व्यवहार होता है।

सं०—बुद्धि से ही भोग सिद्धि है फिर लिंग शरीर क्यों माना।

## न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥ १२ ॥

प० क्र०—(छायावत् च चित्रवत्) छाया और चित्र के समान (तदृते) लिंग शरीर बिना (स्वातन्त्रात्) स्वतंत्र रूप से बुद्धि भोग सम्पादन (न) नहीं कर सकती।

भा०—आधार के बिना चित्र नहीं इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से बिना बुद्धि सत्व स्थिति नहीं अतः लिङ्ग शरीर मानना आवश्यक है।

सं०—लिंग शरीर से भोग सिद्धि हो जाने पर स्थूल शरीर क्यों माना।

## मूर्त्तत्वेऽपि न संघातयोगात्तरणिवत् ॥ १३ ॥

प० क्र०—(तरणिवत्) सूर्य समान (मूर्त्तत्वे) मूर्त्त होने से (अपि) भी (संधात भोगात्) स्थूल शरीर बिना भोग सिद्धि (न) नहीं।

भा०—जैसे प्रकाशरूप सूर्य जड़ पृथिवी आदि को सम्बन्ध से मिलता है इसी प्रकार स्थूल शरीर सम्बन्ध से बिना सूक्ष्म शरीर भोग साधन दुर्लभ है अतः स्थूल शरीर

मानना आवश्यक है।

सं०—लिंग शरीर का परिमाण क्या है।

## अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ॥ १४ ॥

प० क्र०—(तत्कृति श्रुतेः) लिंग शरीर उत्पत्तिमान होने से (अणु-परिमाणं) परमाणु की भांति सूक्ष्म नहीं।

भा०—सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है अतः अणु नहीं किन्तु मध्यम परिमाण वाला है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

## तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥ १५ ॥

प० क्र०—(च) तथा (तदन्नमयत्वश्रुतेः) प्रकृति कार्य पाये जाने से।

भा०—लिङ्ग शरीर मध्यम परिमाण वाला है क्योंकि जो प्रकृति का कार्य है वह घट की भांति मध्यम परिमाण वाला है।

सं०—लिंग शरीर के मरण जन्म का प्रयोजन क्या है।

## पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥ १६ ॥

प० क्र०—(सूप कारवत्) रसोइये के समान (लिङ्गानां) लिंग शरीरों में (संसृति) आना जाना (पुरुषार्थं) जीवों के भोग मोक्ष के लिये हैं।

भा०—जैसे रसोइया स्वामी के लिये भोजन बनाता है अपना स्व सम्बन्ध विशेष नहीं इसी प्रकार लिंग शरीर जीव

के लोक परलोक ले जाने से आने में साधक है इसी से भोग मोक्ष होती है ।

सं०—स्थूल शरीर का क्या काम है ।

## पञ्चभौतिकोदेहः ॥ १७ ॥

प० क्र०—(देहः) स्थूल शरीर (पांच भौतिकः) पांच भूतों का परिणाम है ।

भा०—पृथ्वी जल वायु आकाश और तेज यह पांच भूत का परिणाम देह है ।

सं०—स्थूल शरीर में एक देशी विवेचन ।

## चातुर्भौतिकमित्येके ॥ १८ ॥

प० क्र०—(चातुर्भौतिकम् इति) स्थूल शरीर चार भूतों का परिणाम है (एके) कोई आचार्य कहते हैं ।

भा०—कोई २ आचार्य चार भूतों का ही स्थूल शरीर मानते हैं ।

सं०—अन्य मत भी हैं ।

## एक भौतिकमित्यपरे ॥ १९ ॥

प० क्र०—(एक भौतिकम इति) स्थूल शरीर केवल पृथिवी परिणाम है (अपरे) ऐसा भी कोई २ मानते हैं ।

भा०—कोई २ आचार्य स्थूल शरीर को पृथिवी का परिणाम कहते हैं ।

सं०—देहात्मवाद का खण्डन करते हैं ।

## न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टे ॥ २० ॥

प० क०—(प्रत्येकादृष्टेः) प्रत्येक भूत में चेतनता की अप्रतीति से (सांसिद्धिकं) स्वभाविकं (चैतन्यं) चेतनता (न) नहीं है।

भा०—असत से सत नहीं उत्पन्न होता न सत से असत होता है इसी नियम से जड़ भूतों में चेतनता का अभाव होने से अनुमान सिद्ध है कि कार्यभूत देह में [illegible] चैतन्यता नहीं।

सं०—देह को स्वाभाविक चेतन माने तो क्या दोष !

## प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥ २१ ॥

प० क०—(च) यदि देह चेतन मानलें तो (प्रपंच मरणाद्य भावः) संसार में मरण और सुषुप्त न रहेगी।

भा०—स्वाभाविक चेतन देह का नाश न होने से जीवमात्र की सुषुप्ति तथा मृत्यु व्यवस्था न रह सकेगी।

सं०—जैसे मादक द्रव्य योग से मादकता हो जाती है इसी भांति भूतों के मिलाप से देह में चैतन्यभाव मानें तो क्या आपत्ति है ?

## मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टेसांहत्ये तदुद्भवः २२

प० क०—(चेत) यदि ( मदशक्तिवत् ) मद शक्ति समान चेतनता मानो तो ( प्रत्येक परिदृष्टे ) मादक प्रत्येक द्रव्य में मादकता होती है अतः (साहित्ये) मिलने पर (तदुद्भवः) मादकता शक्ति का आविर्भाव होता है।

भा०—द्राक्षासव, अफ़ीम आदि मादक द्रव्यों में तो उनके मादक कणों के मिश्रण से मादकता होती है परन्तु भूतों में तो प्रत्येक स्वरूप में चेतनता नहीं अतः कार्यभूत चेतन शरीर नहीं हो सकता। फिर इन पांच तत्वों में भी भिन्न २ चेतनता नहीं संघात में कैसे आजावेगी।

सं०—जीव की मुक्ति का कारण कहते हैं।

## ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३ ॥

प० क्र०—(ज्ञानान) प्रकृति पुरुष विवेक से (मुक्तिः) मोक्ष होता है।

भा०—विवेक ज्ञान और तीनों दुखों की अत्यन्त निवृत्ति मुक्त पद दिलाता है।

सं०—बन्ध का क्या कारण है?

## बन्धोविपर्ययात् ॥ २४ ॥

प० क्र०—( विपर्ययात् ) अज्ञानता से (बन्धः) बन्ध होती है।

भा०—अज्ञान बन्धन का कारण है वह शरीर सम्बन्ध का कारण और दुखत्रयक हेतु है।

सं०—केवल ज्ञान से ही मुक्ति है कर्म से नहीं होती।

## नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥ २५ ॥

प० क्र०—(नियत कारणत्वात्) ज्ञान मुक्ति का नियत कारण होने से (समुच्चय विकल्पौ) समुदाय अथवा विकल्प नहीं।

भा०—मुक्ति विवेक ज्ञान से होती है यह नियम है उसके साथ कर्मों का समूह अथवा विकल्प नहीं जिस प्रकार विवेक ज्ञान अविवेक अज्ञान का निवर्तक है इस भांति कर्म अविवेक के निवर्तक नहीं अतः विवेकज्ञान के साधक कर्मों के समूह मिल कर मुक्ति दिलाते हैं वहां विकल्प ठीक नहीं कि ज्ञान के स्थान में केवल कर्म या कर्म के स्थान में केवल ज्ञान प्रयोजन सिद्ध कर सकता है।

सं०—ज्ञान कर्म समुच्चय एवं विकल्प से मुक्ति न होने में कारण है।

## स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यांनोभयोर्मुक्तिःपुरुषस्य ॥ २६ ॥

प० क्र०—(मायिकामायिकाभ्याम्) मिथ्या स्वप्न और सत्य जाग्रत के समान (उभयोः) ज्ञान कर्म समुच्चय और विकल्प (पुरुषस्य) पुरुष को (मुक्तिः) मोक्ष (न) नहीं।

भा०—जैसे स्वप्न तथा जाग्रत का विकल्प नहीं इसी समान ज्ञान और कर्म समुदाय या विकल्प मोक्ष का कारण नहीं क्योंकि नित्य कर्म मायिक और ज्ञान तात्विक है।

सं०—नैमित्तिक कर्म के संकलन को कहते हैं।

## इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥ २७ ॥

प० क्र०—(इतरस्य) नैमित्तिक कर्म (अपि) भी (आत्यन्तिकम्) तीनों दुख की निवृति का कारण (न) नहीं।

भा०—नैमित्तिक कर्म से भी तीनों दुखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं

हो सकती जिसके लिये लिये जाते हैं उनका मुक्ति फल के साथ समुच्चय नहीं।

सं०—काम्य कर्मों के समूह का निराकरण भी किया जाता है

## संकल्पितेऽप्येवम् ॥ २८ ॥

प० क्र०—(एवम्) इसी भांति (संकल्पिते) काम्य कर्मों का (अपि) भी जाना जाता है

भा०—इन जात्येष्ट्यादि कार्य कर्म जिस कामना से किये जाते हैं वह उसी से सिद्ध हेतुक है। इसलिये भी समुच्चय नहीं बनता।

सं०—कोई भी कर्म ज्ञान से समुच्चय सम्बन्ध नहीं रखता।

## भावनोपचयाच्छुद्धस्यसर्वं प्रकृतिवत् ॥ २९ ॥

प० क्र०—(प्रकृतिवत्) सात्विक प्रकृति के समान (शुद्धस्य) शुद्धान्तःकरण पुरुष के (भावनो पंचयात्) ध्यान के प्रभाव से (सर्वम्) सब काम मुक्ति हेतुक हैं।

भा०—सत्व से ज्ञान होता है इस नियम से प्रधान प्रकृति में ज्ञान और कर्म समुच्चय होता है इसी भांति समाधि ईश्वर साक्षात्कार के साधन हैं।

सं०—ध्यान किसे कहते हैं।

## रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ ३० ॥

प० क्र०—(रागोपहतिः) राग निवृत्ति (ध्यानम्) ध्यान है।

भा०—राग की निवृत्ति का नाम ध्यान है।

प्र०—ध्यान की सिद्धि का हेतु कहते हैं। . . .

## वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥ ३१ ॥

प० क्र०—(वृत्ति निरोधात्) चित्तवृत्ति निरोध से (तत्सिद्धिः) ध्यान की सिद्धि होने से।

भा०—चित्त की वृत्ति को रोकना ही योग है।

प्र०—वृत्तिनिरोध किस प्रकार होती है।

## धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥ ३२ ॥

प० क्र०—(धारणासन स्वकर्मणा) धारणा, आसन और यम नियम से (तत्सिधिः) वृत्ति रोकने की सिद्धि से।

भा०—धारणा, आसन और यम नियम से चित्तवृत्ति रुकती है।

प्र०—धारण का क्या लक्षण है।

## निरोधश्छर्दि विधारणाभ्याम् ॥ ३३ ॥

प० क्र०—(छर्दिविधारणाभ्याम्) रेचन तथा स्तम्भन से (निरोधः) प्राणों के निरोध से धारणा बनती है।

भा०—रेचक तथा कुम्भक और पूरक से धारणा बनती है।

प्र०—आसन किसे कहते हैं।

## स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

प० क्र०—स्थिर सुखम्) अचल सुखदादि का नाम (आसनम्) आसन है।

भा०—बहुत देर तक सुख से जिस रीति से बैठ कर योग कर सकें वह आसन है।

सं०—स्वकर्म क्या होता है।

## स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—( स्वाश्रम विहित कर्म अनुष्ठानम् ) अपने २ आश्रम के भेद से कर्मों के अनुकूल (स्वकर्म) अपना काम करने से।

भा०—योगी कि विभिन्न आश्रम दशा से यम नियम आसनादि क्रम से उसके कर्म-साधना आदि उपाय को स्वकर्म कहते हैं।

सं०—वृत्ति निरोध का दूसरा और भी उपाय है।

## वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥

प० क्र०—(वैराग्यात्) वैराग्य (च) तथा (अभ्यासात्) अभ्यास से वृत्ति रुकती है।

भा०—वैराग्य और अभ्यास से वृत्ति रुकने लगती है।

सं०—बन्ध का कारण विपर्य्यय कहा है उसके भेद यह हैं।

## विपर्ययभेदाः पंच ॥ ३७ ॥

प० क्र०—(विपर्य्यय भेदाः) अविवेक भेदादि (पंच) पांच हैं।

भा०—अविवेक, विपर्यय और मिथ्या ज्ञान पर्याय वाची हैं यह अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश में बंटा है।

सं०—अशक्ति से विपर्य्यय ज्ञान होता है।

## अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ॥ ३८ ॥

प० क्र०—(अशक्तिः) बुद्धि का असामर्थ्य (अष्टा विंशतिधा) अट्ठाईस प्रकार का है।

भा०—बुद्धि की अशक्तिता से विपर्यय ज्ञान अट्ठाईस प्रकार का होता है।

सं०—तुष्टि किसे कहते हैं।

## तुष्टिर्नवधा ॥ ३९ ॥

प० क्र०—(तुष्टिः) तुष्टि (नवधा) नव है।

भा०—आत्म तुष्टि आदि ९ है।

सं०—सिद्धि के भेद कहते हैं।

## सिद्धिरष्टधा ॥ ४० ॥

प० क्र०—(सिद्धि) सिद्धियां (अष्टधा) आठ हैं।

भा०—आठ सिद्धियां हैं।

सं०—विपर्य्यय के अवान्तर भेद भी हैं।

## अवान्तरभेदाःपूर्ववत् ॥ ४१ ॥

प० क्र०—(अवान्तर भेदाः) अज्ञान के बीच के भी १८ भेद हैं (पूर्वत्) जिस प्रकार पहिले बतलाये हैं।

भा०—विषय भेद से ६२ भेद हैं आठ प्रकार का तम, आठ प्रकार का मोह, दश प्रकार का महामोह, १८ प्रकार का तामिस्र, अठारह प्रकार का अन्धतामिस्र है।

सं०—अशक्ति के भी भेद हैं।

## एवमितरस्याः ॥ ४२ ॥

प० क्र०—( एवं ) इसो भांति ( इतरस्याः ) अशक्ति के अनन्तर भेद हैं।

भा०—अशक्ति के २८ भेद हैं।

सं०—तुष्टि के नव प्रकार के यह भेद हैं:—

## आध्यात्मिकादिभेदान्नवधातुष्टिः ॥ ४३ ॥

प० क्र०—( आध्यात्मिकादि भेदात् ) आध्यात्मिकादि भेद से (तुष्टिः) तुष्टि नव प्रकार की है।

भा०—प्रसन्नता ९ प्रकार की होती है वह प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य, पार, सुपार, पारावार, अनुत्रमाम्भ, अत्रमाम्भ-नव हैं प्रकृति का परिणाम विवेक तक है।

सं०—सिद्ध के ८ भेद हैं।

## ऊहादिभिः सिद्धि ॥ ४४ ॥

प० क्र०—(ऊहादिभिः) ऊहा आदि भेद से (सिद्धिः) सिद्धियां ८ हैं।

भा०—ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर दुख निवृत्ति होने पर आठ सिद्धियां मिलती हैं जो ऊहा अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, तीन दुक्ख, और दान कहलाती हैं।

सं०—तप आदि भी सिद्धि ही हैं।

## नेतरादितरहानेन विना ॥ ४५ ॥

प० क्र०—(इतरहानेन, विना) विना विपर्यय ज्ञान निवृत्ति के ( इतरान् ) तपादि सिद्धि (न) नहीं होती।

भा०—जब तक मिथ्या ज्ञान नष्ट न हो समाधि आदि सिद्धियां कथनमात्र हैं।

सं०—ब्राह्मसृष्टि के भेद बतलाते हैं।

**दैवादिप्रभेदा ॥ ४६ ॥**

प० क्र०—( दैवादि प्रभेदा ) दैवादि भेद वाली भौतिकी सृष्टि होती है।

भा०—देवादि मनुष्य पर्य्यन्त सृष्टि के भेद हैं।

सं०—सृष्टि का प्रयोजन क्या है।

**आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥ ४७**

प० क्र०—( आविवेकात् ) जब तक विज्ञान उत्पन्न हो ( आब्रह्म स्तम्बपर्यनाम् ) ब्रह्मा से जड़ योनि पर्यन्त ( तत्कृते ) पुरुष के हेतु ( सृष्टिः ) रचनी होती है।

भा०—ज्ञानी पुरुष जो संयमी और यमी है वह ब्रह्मा कहलाता है जब तक पुरुष को प्रकृति पुरुष ज्ञान नहीं तब तक ज्ञानी से जड़ अवस्था वाले जीवों तक भौतिकी रचना होती है।

सं०—सृष्टि ( रचना ) के भेद बतलाते हैं।

**ऊर्ध्व सत्वविशाला ॥ ४८ ॥**

प० क्र०—(सत्व विशाला) सत्व गुण विशिष्ट (ऊर्ध्व) उत्तम रचना है।

भा०—जिस योनि में सतोगुण प्रधान हो वह दैवी सृष्टि कहलाती है।

सं०—तम प्रधान रचना क्या है।

## तमोविशाला मूलतः ॥ ४९ ॥

प० क०—( तमोविशाला ) अधिक तमोगुणी रचना ( मूलतः ) जड़ है।

भा०—जिन पुरुषों में रजोगुण और सतोगुण न्यून हैं वह तामसी रचना है

सं०—राजसी रचना कैसी है।

## मध्ये रजोविशाला ॥ ५० ॥

प० क०—(रजोविशाला) रजोगुण अधिक हो (मध्ये) वह मध्यम कोटि रचना है।

भा०—हिंसा, क्रूर, असत्य, क्रोध आदि की राजसी सृष्टि है।

सं०—ऐसे भाव की सृष्टि क्यों होती है।

## कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ ५१ ॥

प० क०—(गर्भ दास वत्) गर्भ से ही दास भाव जन्य भावना वाले के सदृश (कर्म वैचित्र्यात् ) कर्मों की विलक्षणता से (प्रधान चेष्टा) प्रकृति की चेष्टा है।

भा०—जन्म से ही सेवा वृत्ति वाला जिस प्रकार विचित्र कर्म लेकर उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के उपकार के लिये स्वभावतः प्रयत्नशील होती है।

सं०—सात्विक कर्मों से पुरुष की उच्च गति होती है।

## आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥

प० क्र०—(तत्र अपि) उच्च गति प्राप्त करने पर (उत्तरोत्तर योनि योग्यत्) उच्च योनि योग मे (आवृत्तिः) उच्च योनि प्राप्ति की इच्छा (हेयः) छोड़ने योग्य है।

भा०—उच्च योनि को प्राप्त कर मनुष्य कृतार्थ नहीं होता क्योंकि उसका बार २ अभ्यास कर के योनि भोग स्थिर करना पड़ता है और स्थिरता तक ही कर्म होता है अतः मुक्ति भावना के लिये योनि प्राप्ति भी वर्णनीय है।

सं०— इसमें हेतु है।

## समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ ५३ ॥

प० क्र०—(जरा मरणादिजं बुढ़ापा, मरण, और दुक्ख समान उस उच्च गति में मिले हैं।

भा०—उच्च योनि भी जरा, मृत्यु आदि दुःख मुक्त हैं मोक्ष इच्छा वाले इधर आवश्यकता नहीं समझते।

सं०—कारणलय से पुरुष कृतकृत्य हो सकता हैं फिर मोक्ष क्यों।

## न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥ ५४ ॥

प० क्र०—( मग्नवत् ) मूर्छावस्था से ( उत्थानात् ) उठने के समान ( कारणलयात् ) कारण में लय होने से (कृतकृत्यता) पुरुष की कृतकृत्यता है।

भा०—अहर्निशि प्रकृति का चिन्तन करते हुये अपने आप को उसमें लीन कर देते हैं वह कारण लीन पुरुष कहलाते हैं वह

मूर्छित अवस्था के समान हो जाते हैं इसलिये प्रकृति-
लय पुरुष भी कृतकृत्य नहीं हो सकता।

सं० —प्रकृति स्वतन्त्र होने से प्रकृतिलय पुरुष के बन्धन का क्यों
हेतु होगी !

## अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ ५५ ॥

प० क्र०—(अकार्य्यत्वे अपि) प्रकृति किसी का कार्य न होने पर
(पारवश्यात्) पराधीन होने से (तद्योगः) उसका
योग प्रकृतिलय के साथ हो जाता है।

भा०—यद्यपि प्रकृति अकार्य होने से स्वतन्त्र होती है परन्तु
परमात्मा के आधीन होने से पुरुष के साथ योग होता
है अत. योग होने से पुरुष के बन्धन का कारण
होता है।

सं० —प्रकृति परमात्मा के आधीन कैसे है।

## स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ ५६ ॥

प० क्र०—(सहि) वह परमात्मा (सर्ववित) सर्वज्ञ होने से (सर्व
कर्त्ता) सब संसार की रचना करता है।

भा०—उस परमात्मा से बिना प्रकृति में रचना नहीं होती अर्थात्
वह सबका जानने वाला और समस्त सृष्टि का
कर्त्ता है।

सं०—सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता कहने से किस ईश्वर की सिद्धि होती
है जो ऐसा हो वही ईश्वर है।

## ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ ५७ ॥

प० क्र०—(ईदृशेश्वर सिद्धिः) सर्वज्ञादि गुणयुक्त ईश्वर की सिद्धि (सिद्धा) वैदिक ईश्वर की सिद्धि सिद्ध होती है।

भा०—ऐसे गुण वाला तो ईश्वर ही हो सकता है न कि जीव। भेद इतना है कि जीव में सर्वज्ञत्व तो आता है परन्तु सर्व कर्तृत्व आदि गुण नहीं आते।

सं०—पराधीन प्रकृति की रचना जीव रचना के सदृश आत्म निमित्त है।

## प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥ ५८ ॥

प० क्र०—(उष्ट्रकुंकुम वहनवत्) ऊंट पर लदी केसर समान (प्रधान सृष्टि) प्रकृति-रचना (परार्थं) अन्य के लिये (स्वतः अपि) अपने आप (अभोक्तृत्वात्) प्रकृति भोक्ता नहीं बन सकती।

भा०—जिस प्रकार ऊंट पर लदी केसर परार्थ के लिये है उसी प्रकार प्रकृति जड़ होने से उसकी रचना दूसरे के लिये है।

सं०—जड़ प्रकृति किस प्रकार दूसरे का हित चाहती है।

## अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥ ५९ ॥

प० क्र०—(अचेतनत्वे अपि) जड़ होने पर (प्रधानस्य) प्रकृति का

(चेष्टितं). चेष्टा. रूप कर्म क्षीरवत्) दूध के सदृश होता है।

भा०—जिस भांति जड़ दूध बछड़े के लिये होता है इसी प्रकार जड़ प्रकृति भी पुरुष के भोग-मोक्ष के लिये चेष्टा करती है।

सं० —इसमें युक्ति देते हैं।

## कर्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः ॥ ६० ॥

प० क्र०—(कालादेः) कालादि जड़ पदार्थ (कर्मवत्) कर्म सदृश (दृष्टेः) अन्य के लिये चेष्टित होने से।

भा०—छहों ऋतुओं में कालादि परिवर्त्तन रूप कर्म चेतन के भोगार्थ होता है इसी भांति प्रधान की चेष्टा भी परमात्मा के लिये है।

सं०—जड़ प्रकृति में यह विचार नहीं होता कि मैं अमुक के लिये यह कर रही हूँ।

## स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद्भृत्यवत् ॥६१॥

प० क्र०—(भृत्यवत्) नौकर की भांति (अनभिसन्धानात्) बिना संकल्प (स्वभावात् स्वभावसिद्ध चेष्टितं) प्रकृति चेष्टा है।

भा०—नौकर के सदृश प्रकृति की स्वभाव सिद्ध कार्य पूर्ति की चेष्टा है।

सं०—इसमें युक्ति यह है।

कर्म कृष्टेर्वानादितः ॥ ६२ ॥

क०—(वा) और (अनादितः) अनादि समय से (कर्माकृष्टेः) कर्मों की आकृष्टता से प्रकृति में चेष्टा है।

भा०—अनादि काल से जो प्रकृति में चेष्टा है वह प्रथम सृष्टि के जीवों के कर्म वश है और वह भोगार्थ होती है।

भा०—स्वभाव वश से प्रकृति से रचना होती है।

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥ ६३ ॥

क०—(सूदवत्, पाके) भोजन हो चुकनेपर रसोइया (विविक्त बोधात्) विरक्त पुरुष बोध होने पर (प्रधानस्य) प्रकृति की (सृष्टि निवृत्तिः) रचना रहित होती है।

भा०—जब वैराग्यवान को प्रकृति पुरुष का ज्ञान हो जाता है तब प्रकृति भोग उत्पन्न करना बन्द कर देती है जैसे रसोइया भोजन पक जाने पर रसोई बनाना बन्द कर देता है।

भा०—तत्ववेत्ता को बन्धहीन और अज्ञानी को बन्धयुक्त एक ही प्रकृति कैसे कर सकती है।

इतर इतरवत्तद्दोषात् ॥ ६४ ॥

क०—(तद्दोषात्) प्रकृति दोष से (इतरः) तत्ववेत्ता से भिन्न पुरुष (इतरवत्) अज्ञानी के समान प्रकृति बन्धन में आता है।

भा०—जिसने प्रकृति के दोषों को जान लिया है उसे नहीं बांध सकती जिसने दोष नहीं जाने उसे बन्धन में डालती है।

सं०—प्रकृति पुरुष का वियोग ही मुक्ति है। पृथक् निरूपण फिर क्यों किया गया।

## द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥६५॥

प० क्र०—(द्वयोः) प्रकृति पुरुष (वा) अथवा (एकतरस्य) एक की (औदासीन्यं) उदासीनता (अपवर्गः) मुक्ति है।

भा०—प्रकृति अथवा पुरुष में एक की उदासीनता का ही नाम मुक्ति है। प्रकृति के गुणाधिकार समाप्त होने पर जीव उसके दोष जान लेता है और उदासीन हो जाता है यही मुक्ति है।

सं०—जब एक पुरुष उदासीन हुआ तो औरों को भी होना चाहिये।

## अन्यसृष्टयुपरागेपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जु तत्वस्यैवोरगः ॥६६॥

प० क्र०—(प्रबुद्धरज्जुतत्वस्य) जिस प्रकार रस्सी के जानने वाले की भ्रान्ति (उरगः) सांप बन्धन का कारण नहीं (इव) उसी प्रकार प्रकृति (अन्य सृष्ट्युपरागे) अज्ञानी के लिये रचना में (अपि) निश्चयपूर्वक (न, विरज्यते) उदासीन नहीं होती।

भा०—जैसे रस्सी का ज्ञानी भ्रान्तिवश उसे सांप नहीं मानता

इसी प्रकार प्रकृतिवेत्ता को प्रकृति बन्धन में नहीं ला सकते हैं। अज्ञानी को रस्सी में सांप दीखता है उसी प्रकार अज्ञानी को प्रकृति बन्धन है।

सं०—और हेतु देते हैं।

## कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥६७॥

प० क्र०—(च) तथा (कर्मनिमित्त योगात्) बन्धन हेतुक जो कर्म उनके योग से।

भा०—जिनका कर्म बन्धन शेष है उनके प्रति प्रकृति उदासीन नहीं हो सकती अतः एक प्रति उदासीनता सबके लिये नहीं हो सकती।

सं०—प्रकृति किसके बदले पुरुष को भोग देती है।

## नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥६८

प० क्र०—(नैरपेक्ष्ये, अपि) प्रकृति की कोई अपेक्षा नहीं (प्रकृत्युपकारे) प्रकृति के भोग मोक्ष उपकार में (अविवेकः) अज्ञान (निमित्तं) कारण है।

भा०—प्रकृति के लिये पुरुष हित में सृष्टि रचने में कोई लाभ नहीं यतः पुरुष अविवेकी है वह सत्वादि गुण उसे बांध लेते हैं यही रचना है।

सं०—प्रकृति तो प्रकृति स्वभाव वाली है फिर विवेक से निवृत्ति किस प्रकार होगी।

## नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९

प० क०—(प्रवृत्तस्य, अपि) प्रवृत्ति स्वभाव वाली प्रकृति होने पर भी (चारितार्थ्यात्) कृतकार्य होने से (नर्तकीवत्) नृत्या के समान (निवृत्तिः) निवृत्ति होती है।

भा०—नृत्या जिस प्रकार अपने शृङ्गार हाव भाव से मोहित कर निवृत्ति होती है उसी प्रकार प्रकृति भी कृतकार्य होकर निवृत्ति हो जाती है।

सं०—हेतु देते हैं।

## दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥७०॥

प० क०—(कुलवधूवत्) कुलीन स्त्री की भांति (दोष बोधे) दोष जान लेने पर (प्रधानस्य) प्रकृति का (उपसर्पण) पुरुष बन्धन का कारण (न) नहीं।

भा०—जैसे कुलीन वधू अपने दोष ज्ञात वाले पुरुष के सामने नहीं आती इसी प्रकार प्रकृति स्वदोष ज्ञान के अनन्तर भय करके अलग होकर निर्बन्ध होती है।

सं०—यदि प्रकृति सम्बन्ध से पुरुष में बन्ध और मोक्ष है तो पुरुष विकारी होगा।

## नैकान्ततो बंधमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥७१॥

प० क०—(पुरुषस्य) पुरुष को (बन्ध मोक्षौ) बन्ध व मोक्ष (अविवेकात् ऋते) अविवेक से है (एकान्ततः) परमार्थ (न) नहीं।

भा०—स्वरूप से कूटस्थ के स्वरूप में विकार नहीं आता उसके
मुक्ति, बद्धता केवल उसका अज्ञान है।

सं०—वास्तव बन्ध मोक्ष पुरुष में नहीं तो किसमें माननी
चाहिये।

## प्रकृतेरांजस्यात ससंगत्वात् पशुवत ॥७२॥

प० क्र०—(पशुवत्) रस्सी पशुओं का मुक्त और बन्धन है तथैव
(ससङ्गत्वात्) बन्ध मोक्ष प्रकृति से सम्बन्ध होने पर
प्रतीत होते हैं प्रकृत (प्रकृते राञ्जस्य) वह तो प्रकृति
के यथार्थ धर्म हैं।

भा०—जैसे रस्सो खुलने पर छूटना और फाँस पड़ने पर बँधना
पशुओं का है उसी भांति बन्ध मोक्ष हेतुक प्रकृति के
गुण धर्मादि हैं सङ्ग से पुरुष बँधा है अन्यथा वह
मुक्त ही है।

सं०—प्रकृति के कौन २ से गुण बांधते हैं।

## रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोश-कारवद्विमोचयत्येकरूपेण ॥७३॥

प० क्र०—(कोशकारवत्) रेशम के कीड़े के खोल (घर) के समान
(प्रधान) प्रकृति (सप्तभिः रूपैः) सात रूप वाली
(आत्मानं) जीव को (बन्धाति) बांधती है और (एक
रूपेण) एक रूप से (विमोचयति) मुक्त करती है।

भा०—धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और

अनैश्वर्य यह बन्धन हेतु है तथा विवेक ज्ञान मुक्ति हेतुक है. अर्थात् प्रकृति का गुण रूप विवेक ही बन्धन का कारण है।

ं०—अधर्मादि पाप रूप होने से बन्ध हेतुक हो सकते हैं न कि अज्ञान।

## निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः ॥ ७४ ॥

ा० क०—(अविवेकस्य) अज्ञान का (निमित्वात्) निमित्त होना मिलता है (इति) इसलिये (दृष्ट हानिः) लोक विरुद्ध (न) नहीं।

ा—लोक में जैसे पाप बन्ध हेतुक है उसी भांति अज्ञान भी बन्ध हेतुक है।

ं०—अज्ञान जिससे हटे उस विवेक को कहते हैं।

## त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ७५

प० क०–(न इति न इति ) यह आत्मा नहीं यह आत्मा नहीं इस भांति ( त्यागात् ) प्राकृत पदार्थ त्यागन से ( तत्वाभ्यासात् ) एक तत्व रूप परमात्मा के दृढ़ अभ्यास से (विवेक सिद्धिः ) विवेक ज्ञान प्राप्त होता है।

भा०—ईश्वराभ्यास और इस प्रकृति का अन्त नहीं ऐसा समझ कर इसे छोड़ना विवेक ज्ञान सिद्धि है।

सं०—इस तरह तो एक जन्म से ही सिद्धि हो जानी चाहिये।

## अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥ ७६ ॥

प० क०—(अधिकारि प्रभेदात्) अधिकारियों के भेद से (नियमः) एक जन्म का (न) नियम नहीं।

भा०—उत्तम, मध्यम और अधम भेद अधिकारियों के होने से आवश्यक नहीं कि एक जन्म में ही विवेक ज्ञान हो जावे।

सं०—विवेक ज्ञान होजाने पर सब दुख छूट जाते हैं और जन्म भोग नहीं होना चाहिये।

## बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ७७

प्र० क०—(मध्य विवेकतः) मध्यम अवस्था ज्ञान से (बाधितानुवृत्या) बाधित दुखों के प्रारब्ध कर्मों की लौट फेर होती है (उपभोगः अपि) भोग भी हो सकते हैं।

भा०—तीन प्रकार के अधिकारि भेद से तीन प्रकार के ही मध्यम विवेक (प्रारब्ध कर्म) होने से निवृत्ति नहीं होती अतः भोग भी बना रहता है।

सं०—विवेक के पश्चात् भी भोग बना रहता है फिर उस विवेक से क्या लाभ।

## जीवन्मुक्तश्च ॥ ७८ ॥

प० क०—(च) भोग होने पर भी (जीवन्मुक्तः) जीवन मुक्त होता है।

भा०—विवेकी को भी सुख दुख अनुभव होता है परन्तु जीवन मुक्त होने पर प्रारब्ध कर्मों द्वारा सुख दुख का अनुभव विवेक बल उसे दुखी नहीं होने देता विवेक से यही लाभ भी है।

सं०—जीवन मुक्ति की सिद्धि का प्रकार कहते हैं।

## उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ७९ ॥

प० क्र०—( उपदेश्योपदेष्टृत्वात् ) उपदेश्य और उपदेष्टा होने से (तत्सिद्धि) जीवन मुक्ति होती हैं।

भा०—जीवन मुक्त जब मन्द विवेक अधिकारी को उपदेश करेगा जीवन मुक्ति लाभ होगा।

सं०—इस कथन में क्या प्रमाण है।

## श्रुतश्च ॥ ८० ॥

प० क्र०—( च ) और ( श्रुतिः ) वेद प्रमाण है।

भा०—वेद में ( यजुः ३१। १८ ) में 'अतिमृत्युमेति' प्रमाण है कि प्रारब्ध कर्म भोगता हुआ भी ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त होता है उसे जीवन पर्यन्त ब्रह्म वेदन रहना है।

सं०—जीवनमुक्त को न माने तो क्या हानि है।

## इतरथान्धपरम्परा ॥ ८१ ॥

प० क्र०—( इतरथा ) जीवन्मुक्त न मानने से ( अन्ध परम्परा ) क्रम में अज्ञानता मिलेगी।

भा०—विवेक रूप नेत्रों से जो गुरु शिष्य परम्परा है वह विवेक की नष्ट होनी और दोनों विचार शून्य रहेंगे।

सं०—विवेक से मिथ्या ज्ञान हटने पर जीवन्मुक्त की क्या दशा होती है।

## चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः ॥ ८२ ॥

प० क्र०—( चक्र भ्रमणवत् ) पहिये के घूमते के समान ( धृत शरीरः ) जीवन्मुक्त का शरीर ठहरता है।

भा०—कुम्हार का चक्र जिस प्रकार दण्ड से घूमता है परन्तु दण्ड कर्म की निवृत्ति होते हुए भी भ्रमण बना रहता है इसी प्रकार विवेक से मिथ्या ज्ञान निवृत्ति होने पर भी प्रारब्ध कर्म जीवन्मुक्त का शरीर ठहराये रहते हैं।

सं०—भोग वासना के नष्ट होने पर जीवन्मुक्त का शरीर नहीं रहना चाहिये।

## संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥

प० क्र०—( संस्कारलेशतः ) संस्कार के लेश से ( तत्सिद्धिः ) जीवन्मुक्त का शरीर रहता है।

भा०—भोगवासनाओं के नाश होने पर भी संस्कार लेश जीवन्मुक्त की शरीर स्थिति का कारण है।

सं०—प्रारब्ध कर्म नाश होने पर क्या होगा।

## विवेकान्निःशेष दुःखनिवृत्तौ कृत कृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥ ८४ ॥

प० क्र० –( विबेकात् ) विवेक ज्ञान से (निः शेष दुःख निवृत्तौ) सब दुखों से छूटना ( कृत कृत्यः ) पुरुषकृतार्थ होता है ( इतरात, न ) अन्य से नहीं।

भा०—विवेक ज्ञान ही दुख की अत्यन्त निवृति हेतुक है वह ईश्वर के दृढ़ अभ्यास चिन्तवन से होता है उस विवेक से सर्व दुख निवृत्त हो जाते हैं।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते सांख्य दर्शने भाषा-भाष्यं तृतीयाध्यायः ॥ समाप्तः ॥

* ओ३म् *

# अथ चतुर्थाध्यायः प्रारभ्यते ।

सं०—स्थूल शरीर और लिङ्ग शरीर रचना एवं मुक्ति के साधनों का निरूपण किया । अब विवेक हेतु कहते हैं ।

## राजपुत्रत्त्वोपदेशात ॥ १ ॥

प० क्र०—( राजपुत्रवत् ) राजपुत्र के समान ( तत्वोपदेशात् ) आत्मतत्व उपदेश से विवेक ज्ञान होता है ।

भा०—श्रीराम को गुरु वशिष्ट के उपदेश से विवेक ज्ञान हुआ अतः गुरु उपदेश विवेक ज्ञान का कारण है ।

सं०—गुरुद्वारा ही ज्ञान होता है क्या अन्य साधन नहीं ।

## पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥ २ ॥

प० क्र०—( पिशाचवत् ) पिशाच के समान ( अन्यार्थोपदेशे ) शिष्य प्रति उपदेश से ( अपि ) अन्य पास वाले मनुष्य को भी विवेक ज्ञान हो सकता है ।

भा०—गुरु उपदेश के सुनने से पास के सुनने वाले को भी वही ज्ञान होता है जैसे शिवजी ने पार्वती जी को उपदेश किया तो समीपस्थ पिशाच और भी शुकदेव जी को गर्भ में ही ज्ञान हो गया ।

सं०—एक बार उपदेश करने पर विवेक ज्ञान न हो तो फिर ?

## आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ३ ॥

प० क्र०—( असकृदुपदेशात ) बारम्बार उपदेश से ( आवृतः उपदेशावृत्तिः करनी चाहिये ।

भा०—यदि एक वार श्रवण से विवेक ज्ञान नहीं तो बारम्बा श्रवन मनन करना चाहिये ।

सं०—पुत्र के प्रति पिता का अनेक बार उपदेश है शिष्य प्रति नहीं ।

## पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

प० क्र०—( उभयोः ) गुरुशिष्य सम्बन्ध ( पिता पुत्रवत् ) पिता पुत्र के समान ( दृष्टत्वात् ) देखा जाता है ।

भा०—गुरु पिता के समान होने से शिष्य के प्रति गुरु बारम्बार उपदेश कर सकता है ।

सं०—जब विवेक ज्ञान हो जावे तो पुनः उसकी दृढ़ता करे ।

## श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥ ५ ॥

प० क्र०—( श्येनवत् ) बाज के समान ( त्याग वियोगाभ्याम् ) त्याग तथा वियोग में ( सुख दुःखी ) सुखी दुखी होना ।

भा०—जैसे बाज मांस लोलुपता के वश पक्षी मारता तो है परन्तु स्वामी का भाग होने से उसे अप्राप्ति में दुख होता है इसी प्रकार संग्रह और त्याग विषय को जानना ही विवेक ज्ञान दृढ़ता है ।

सं०—विषयों का त्याग स्वयं भी होता है ।

## अहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥ ६ ॥

प० क्र०—( अहि निर्ल्वयनीवत् ) सांप की काया अंचल (केंचुली) के समान विषयों का त्याग हो सकना ।

भा०—जिस प्रकार सांप केंचुली को अनायास छोड़ देता है इसी प्रकार विवेकी को विषय त्यागन करने चाहिये ।

सं०—अन्य प्रकार भी हैं ।

## छिन्नहस्तवद्वा ॥ ७ ॥

प० क्र०—(वा) अथवा ( छिन्नहस्तवत् ) कटे हाथ के समान विषयों का त्यागन ।

भा०—जिस प्रकार दोष युक्त हाथ को स्वयं कटवा देते हैं इसी प्रकार विषय त्यागन करना चाहिये ।

सं०—मन चंचल होने से बिना अवलम्ब के कहां रहेगा अतः चिन्तन का परायण न करे तो ऐसे अनुचिन्तन से क्या हानि ?

## असाधनानुचिन्तनं वन्धायभरतवत् ॥ ८ ॥

प० क्र०—( असाधुनानु चिन्तनं ) जो शब्द स्पर्शादि से विषय साधन में न आवें उनका ( भरतवत् ) भरत के समान (वन्धाय) वन्ध हेतुक है ।

भा०—भरतजी को हिरनी के बच्चे के पालन करने के कारण-भूत विषयों के असाधनभूत पदार्थ सम्वन्ध से ही

अन्य जन्म धारण करना पड़ा अतः मुमुक्षु को राग अच्छा नहीं। ८

सं०—विषय चिन्तन छोड़ कर चित्त के सहारे के लिये बहुतों की संगति में रहने से क्या दोष।

## बहुभिर्योगे विरोधारागादिभिः कुमारीशंखवत् ६

प० क्र०—( कुमारी शंखवत् ) कुमारी के कंकण के समान ( बहुतिः योगे ) बहुतों से मिले रहने में ( रागादिभिः ) रागादि दोष कारण से ( विरोधः ) विरोध आता है।

भा०—कुमारी के कंकण ( वलय ) एक २ करके अलग करने से शब्द न देने के सदृश एकाकी मुमुक्षु रागद्वेष विरोध रहित हो जाता है।

सं०—बहुतों से मिलकर रहने में दोष हो तो दो मिलकर क्यों न रहे।

## द्वाभ्यामपि तथैव ॥ १० ॥

प० क्र०—( द्वाभ्याम् ) दो के संग ( अपि ) भी ( तथा, एव ) वही दोष आता है।

भा०—दो मिल कर भी मुमुक्षु न रहें।

सं०—फिर क्या करें।

## निराशः सुखी पिंगलावत ॥ ११ ॥

प० क्र०—( पिङ्गलावत् ) पिङ्गला के समान ( निराशः ) आशा रहित रहना ( सुखी ) सुखदायक है।

भा०—जैसे पिंगला आशा रहित होकर सुखी हुई इसी प्रकार मुमुक्षु को आशा में नहीं रहना चाहिये ।

सं०—अकेला मनुष्य गृहस्थ कार्य करने से दुखी रहेगा ।

## अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥ १२ ॥

प० क्र०—( सर्पवत् ) सांप के समान ( अनारम्भे, अपि ) गृहस्थ न बनाने में भी ( परगृह ) पर गृहवास में सुखी होगी ।

भा०—वशीकार संज्ञक वैराग्य स्वगृह बना कर रहने में नहीं सधता किन्तु छोड़ने में ही बनता है अतः अन्यत्र परगृह (आश्रम) वास ठीक है ।

सं०—शास्त्रों से सार किस प्रकार ग्रहण करना चाहिये ।

## बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपिसारादानं षट्पदवत् ॥ १३ ॥

प० क्र०—( षट्पदवत् ) भौंरे के समान ( बहुशास्त्रगुरूपासने ) अनेक शास्त्र गुरु सेवा करते ग्रहण करना ( अपि ) भी ( सारादानं ) सारग्राही होना है ।

भा०—भौंरा जैसे प्रति पुष्प पराग लेता फिरता है इसी प्रकार प्रति गुरुकुल में निवास करके बहुत शास्त्र-अध्ययन सार-ग्रहण करना चाहिये ।

सं०—सार ग्राही होने पर भी बहुत से मनुष्यों में रहने से भी समाधि नहीं होती ।

## इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधि हानिः ॥ १४ ॥

प० क्र०—( इषुकार ) वाण बनाने वाला ( एक चितस्य ) एकाग्र

चित्त वृत्ति से ( समाधि हानि ) समाधि हानि ( न ) नहीं होती।

भा०—वाण वनाने वाला जैसे दत्तावधान होकर वाण का अत्रा गढ़ता है इसी प्रकार एक चित्त होने से समाधि हानि नहीं हो सकती।

सं०—शास्त्र के क्रम भंग से अनर्थ होना सम्भव है।

## कृतनियमलङ्घनादार्थक्यंलोकवत् ॥ १५ ॥

प० क०—( लोकवत् ) लोक में रोगी के समान (कृत नियम लंघतात्) शास्त्र के नियमोलंघन से (अनर्थ का) अनर्थ होना सम्भव है।

भा०—जैसे रोगी अनोपान भेद से औषधि सेवन को विधि को भुला कर अनर्थ कर लेता है इसी भांति शास्त्र की अवलेहना से क्रम भंग अनर्थ होजाता है।

सं०—यदि समाधि वीच में टूट जावे तो क्या हो ?

## तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥ १६ ॥

प० क०—(भेकीवत्) भेकी कन्या के समान (तद्विस्मरणे) नियम भंग होने से (अपि) अनर्थ होजाता है।

भा०—जिसका नियम डाले उसका ध्यान रक्खे अन्यथा भेकी के समान विस्मरण करने से वियोग रूप अनर्थ प्राप्ति समान मुमुक्षु भूल जाने से अनर्थ कर लेता है।

सं०—अब विवेकी को परामर्श देते हैं।

**नोपदेशश्रवणेऽपिकृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥ १७ ॥**

प० क्र०—( विरोचनवत् ) विरोचन के समान (परामर्शात् ऋते) मनन विना (उपदेश श्रवणे) उपदेश श्रवण से (अपि) भी कृतकृत्यता) ज्ञान की पूर्ति (न) नहीं हो सकती।

भा०—विरोचन को प्रजापति के उपदेश से पूर्व ज्ञान नहीं हुआ मनन के विना श्रवण मात्र से पुरुष ज्ञानी नहीं हो हो सकता अतः श्रवण के पश्चात् मनन आवश्यक है।

सं०—मनन द्वारा कृतकृत्यता का उदाहरण देते हैं।

**दृष्टस्तयो रिन्द्रस्य ॥ १८ ॥**

प्र० क्र०—(तयोः) इन्द्र और विरोचन के बीच (इन्द्रस्य) इन्द्र का मनन (दृष्टः) उपनिषदों में मिलता है।

भा०—इन्द्र विरोचन दोनों ने प्रजापति से उपदेश लिया था इन्द्र ने श्रवण के पश्चात् मनन किया। परन्तु विरोचन भूल गया अतः विपरीत ज्ञान हुआ।

सं०—परामर्श से शीघ्र ही विवेक होता है।

**प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहु-कालात् तद्वत् ॥ १९ ॥**

प्र० क्र०—( तद्वत् ) इन्द्र के समान ( प्रणति ) ब्रह्मचर्योप-सर्पणानि। प्रणति, ब्रह्मचर्य और असर्पण ( कृत्वा )

करके (बहुकालात्) बहुत दिनों पीछे (सिद्धि) विवेक ज्ञान मिलता है।

भा०—नमस्कार, इन्द्रिय संयम और गुरु समीप जाने पर चिर-काल तक अनुष्ठान करने से विवेक सिद्धि होती है।

सं०—विवेक सिद्धि में काल का नियम नहीं है।

## न कालनियमो वामदेववत् ॥ २० ॥

प्र० क०—(वामदेववत्) वामदेव के समान (कालनियमः) समय का नियम नहीं।

भा०—वामदेव को तो बाल्यावस्था में ही पूर्वार्जित संस्कारवश विवेक ज्ञान होगया था अतः काल का कोई विशेष नहीं है।

सं०—गुरु उपदेश के साथ ही विवेक ज्ञान होना चाहिये।

## अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥ २१ ॥

प्र० क०—(यज्ञोपास का नाम, इव) याज्ञिक लोगों के अहार फल सिद्धि के समान अध्यस्त रूपोपासनात् पारंपर्येण) श्रद्धापूर्वक गुरुकुल निवास अस्वार्थ सन्निधि में उपदेशानुकूल ध्यानादि परम्परा अनुसोलन से विवेक सिद्धि हो जाती है।

भा०—गुरु परम्परा से गुरुकुल में निवास करता हुआ उपदेश ग्रहण से विवेक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

ा०—यज्ञ कर्मों से उत्तम योनि मिले इसी पर संतोष करले फिर क्यों कठिन तपश्चर्यादि षट् कर्म करे।

**इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः॥२२॥**

ा क्र०—( पंचाग्नियोगातः ) पंचाग्नि विद्या से (जन्म श्रुतः) जन्म मिलने से ( इतरलाभे अपि ) यज्ञादि कर्मों से उच्च जन्म प्राप्ति ( आवृत्तिः ) वार २ श्रवण मनन का समय और अभ्यास हो जाने से मुक्ति साधन का मार्ग है।

ा०—विवेकी पुरुष को संसार की निवृत्ति और मोक्ष प्राप्ति का क्रम कहते हैं।

०—क्या विरक्त भी मोक्ष पाते हैं।

**विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादनं हंसक्षीरवत्॥२३॥**

क्र०—( हंस क्षीरवत ) हंस और दूध के प्रथक्करण के समान ( विरक्तस्य ) लोक और परलोक के विषयों से विरक्त को (हेय हानम्) संसार निवृत्ति तथा (उपादेयोपादान) मोक्ष मिलती है।

०—जिस प्रकार हंस नीर क्षीर विवेक से क्षीर ग्रहण कर लेता इसी प्रकार विविक्त पुरुष संसार से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है।

—संसार की निवृत्ति और मोक्ष प्राप्ति क्या विरक्त को ही होती है सत्सङ्ग फिर क्यों करे।

## लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ॥ २४ ॥

प० क्र०—( तद्वत् ) विरक्त समान ( वा ) अथवा ( लब्धाति शय योगात् ) विवेकी पुरुष सङ्ग से भी संसार छूट जाता है और मोक्ष होती है।

भा०—जिन्हें विवेक ज्ञान प्राप्त हो चुका है उनके सत्सङ्ग से भी मुक्ति मिलती है।

सं०—क्या विवेकी के साथ सभी को भी मुक्ति मिल जावेगी।

## न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥ २५ ॥

प० क्र०—( शुकवत् ) शुक समान ( रागोपहते ) रागी जन में ( कामचरित्वम् ) स्वतंत्रता नहीं।

भा०—जैसे कामना वाला तोता स्वतन्त्र नहीं होता उसी भाँति विषयी की मुक्ति नहीं हो सकती।

सं०—विषयों के राग से भी बन्धन होता है।

## गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् । २६ ॥

प० क्र०—( शुकवत् ) सुवे के समान ( गुणयोगात् ) रस्सी के सम्बन्ध से ( बद्धः ) पुरुष बँधता है।

भा०—जैसे सुआ जाल-रस्सी में फँस जाता है उसी प्रकार विषयों में राग बुद्धि होने से पुरुष बन्धन में पड़ता है।

सं०—क्या भोग से राग की निवृति नहीं होती।

## न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

प० क्र०—( मुनिवत् ) मनन करने वाले के समान ( भोगात् ) विषय भोग से ( राग शान्तिः ) राग निवृत्तिः ( न ) नहीं होती।

भा०—मननशील सौभरि के समान भोग से राग निवृत्ति नहीं हुई अतः विषय भोग राग निवृत्ति का कारण नहीं।

सं०—विषयों से राग निवृत्ति कैसे हो।

## दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥

प० क्र०—( उभयोः ) प्रकृति तथा उसके कार्य ( दोष दर्शनात् ) दोष बुद्धि करने से राग निवृत्त होता है।

भा०—प्रकृति के दोष दिखाने तथा उससे द्वेष बुद्धि रखने से राग छूटता है।

सं०—जब विवेक हुआ तो द्वेष बुद्धि कैसे ?

## न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥२९॥

प० क्र०—( अजवत् ) अजसमान ( मलिन चेतसि ) मलिन चित्त में ( उपदेश बीज प्ररोहः न ) उपदेश रूपी बीज नहीं उगता।

भा०—वशिष्ट ने इन्द्रमती के शरीर अवसान पर अज को बड़ा उपदेश किया परन्तु उसके हृदय पर प्रभाव न पड़ा। मलिन चित्त इसी प्रकार उपदेश का प्रभाव नहीं रखते।

सं०—उपदेश से मलिन चित्त भी कभी २ फल देता है।

## नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥३०॥

प० क्र०—( मलिन दर्पणवत् ) मलिन मुकुर के समान ( आभास मात्रम् ) झलकमात्र ( अपि ) भी ( न ) नहीं उपदेश फलता।

भा०—जैसे मलिन दर्पण पर प्रतिविम्ब नहीं पड़ता उसी प्रकार मलिन आत्मा पर ज्ञानोपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता।

सं०—क्या गुरु उपदेश निष्फल जाता है।

## न तज्जस्यापि तद्रूपम् पंकजवत ॥ ३१ ॥

प० क्र०—( पंकजवत् ) कमल समान, ( तज्जस्य ) गुरु उपदेश से होने वाला ज्ञान ( अपि ) भी ( तद्रूपता ) उपदेशानुसार ( न ) नहीं होता।

भा०—जैसे कमल कीच से उत्पन्न होता है परन्तु उसमें पंक दोष नहीं आता इसी प्रकार गुरु उपदेश मलिन चित्त पर ज्ञानानुसारी नहीं होता।

सं०—अणमादि सिद्धियों से भी पुरुष कृतकृत्य नहीं हो सकता।

## न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धवत् ॥ ३२ ॥

प० क्र०—( उपास्य सिद्धवत् ) विवेक ज्ञान की सिद्धि समान ( भूति योगे ) अणमादि सिद्धि मिलने पर ( अपि ) भी ( कृतकृत्यता ) सफलता ( न ) नहीं होती।

भा०—अणिमादि सिद्धि प्राप्त कर लेने पर भी विवेक ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अणिमादि सिद्धि से कृतकृत्यता नहीं होती किन्तु विवेक ज्ञान से कृतकृत्य हो सकता है।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते सांख्य दर्शने भाषाभाष्ये चतुर्थाध्यायः ॥ समाप्त ॥

❀ ओ३म् ❀

# अथ पंचमोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

सं०—अब वेद विरोधी विचारों का निराकरण करने के लिए प्रथम मङ्गलाचरण अनष्ठान पर प्रमाण कहते हैं ।

**मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति ॥१॥**

प० क्र०—( शिष्टाचारात् ) भले लोगों का चलन ( फलदर्शनात् ) उत्तम फल मिलने से ( च ) और ( श्रुतितः ) वेद प्रमाण से ( मंगला चरण इति ) मंगल कामों का अनुष्टान बतलाये हैं ।

भा०—वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान मंगल आचरण हैं आप्त पुरुषों से समर्पित और सुख फल प्रदायक होने से श्रुतिओं में विधान किया गया है अतः वह कर्त्तव्य कर्म है ।

सं०—वैदिक कर्मानुष्ठान से फल सिद्ध है तो कर्मफल प्रदाना ईश्वर को क्यों माने ।

**नेश्वराधिष्ठते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥**

प० क्र०—( ईश्वराधिष्ठिते ) ईश्वर अधिष्ठाता है ( फलनिष्पत्तिः ) फल सिद्धि से ( कर्मणा ) केवल कर्म से (न, तत्सिद्धेः) फल सिद्धि ( न ) नहीं होते ।

।०—कर्म जड़ होने से स्वयं फल नहीं दे सकते अतः कर्म फल प्रदाता चेतन ईश्वर ही है इस नियन्त्रण से ही यह ईश्वर नियन्ता है।

०—ईश्वर को कर्म का अधिष्ठाता सिद्धि में हेतु देते हैं।

## स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥ ३ ॥

क०—( लोकवत् ) संसार में शासक के समान (स्वोपकारात्) जीव हित कामना से ( अधिष्ठानं ) ईश्वर कर्म-अधिष्ठाता है।

।० —सृष्टि रचना में ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं केवल उसका जीवों पर अनुग्रह है कि वह रचना में प्रवृत्त होता है अतः अधिष्ठातातृ हेतु प्रधान है।

०—ईश्वर यह उपकार किस प्रयोजन के लिये करता है।

## लौकिकेश्वरवदितरथा ॥ ४ ॥

क०—( इतरथा यदि कोई प्रयोजन माने तो ( लौकिकेश्वर वन् ) सांसारिक राजाओं के समान होगा।

।०—जिस प्रकार प्रजा से लौकिक शासक अपना अपूर्ण प्रयोग साधते हैं और कामना की पूर्ति में अपूर्ण ही रहते हैं उस प्रकार ईश्वर नहीं वह पर्याप्त काम होने से जीवानुग्रह रूप कर्म फल प्रदाता प्रयोजन मात्र है।

०—आप्त काम मानने की क्या आवश्यकता।

## पारिभाषिको वा ॥ ५ ॥

प० क्र०—(वा) ईश्वर को आप्त काम न मानने से (पारिभाषिकः) नाम का ईश्वर रह जावेगा ।

भा०—ईश्वर तो आत्म काम होने से ही ईश्वर है अन्यथा नहीं ।

सं०—कर्मों के अधिष्ठाता होने से ही फल मिल जावे तो भी ईश्वर सिद्ध नहीं होता क्योंकि अधिष्ठाता किसी राग वश होता है ।

**न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥**

प० क्र०—( प्रति नियत कारणत्वात् ) प्रवृत्ति मात्र से राग हेतु है अतः ( रागात् ऋते ) बिना राग ( तत्सिद्धः ) ईश्वर का अधिष्ठातृत्व सिद्धि ( न ) नहीं ।

भा०—ईश्वर में प्रकृति होने से रागी हो जायगा इसी कारण कर्म फल प्रदाता बिना राग के नहीं बन सकता यह राग द्वेष ईश्वर में नहीं होने चाहिये अन्यथा वह तो एक जीव के बराबर होगा ।

सं०—इसका यह समाधान है ।

**तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥**

प० क्र०—( तद्योगे ) राग वह कि जिसमें इच्छा हो ( अपि ) भी ( नित्य मुक्तः ) नित्यमुक्त ( न ) दूषित नहीं होगा ।

भा०—ईश्वर पर्याप्त काम होने से रागादि इच्छा रहित है । उसके स्वभाविक ज्ञान बल और क्रियायें हैं अतः अधिष्ठाता होने में क्या बाधा हो सकती है ।

सं०--पुनः आशंका होती है।

## प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥८॥

प० क्र०—( चेत ) यदि ( प्रधान शक्ति योगात् ) ईश्वर में प्रधान के समान राग शक्ति योग रूपी इच्छा माने तो (सङ्गापत्तिः ) राग रूप दोष की आपत्ति होगी।

भा०—ईश्वर में यदि प्रधान प्रकृति के समान राग-शक्ति-इच्छा माने तो दोष आता है क्योंकि वह राग रहित है।

सं०—और हेतु देते हैं।

## सत्तामात्राच्चेन सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

प० क्र०—( चेत् ) यदि ( सत्ता मात्रात् ) सत्ता से ही इच्छा मानो तो ( सर्वैश्वर्यम् ) सबको ईश्वर मानना होगा।

भा०—सत्ता मात्र से ईश्वर मानने से सब को ईश्वरत्व भाव प्राप्त हो जायगा।

सं०—इसका यह समाधान है।

## प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

प० क्र०—( प्रमाणाभावात् ) प्रमाण न मिलने से तत्सिद्धिः ) ईश्वर के रागयुक्त और केवल पदार्थ मात्र ( न ) सिद्ध नहीं होती।

भा०—प्रकृति योग से ईश्वर रागी नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाण नहीं है।

सं०—ईश्वर का प्रयोजन होने से रागी प्रतीत होता है।

## सम्बन्धाऽभावान्नानुमानम् । ११

प० क्र०—( सम्बन्धाभावात् ) सम्बन्ध न होने से ( अनुमानम् ) अनुमान प्रमाण से भी ( न ) नहीं ।

भा०—कामना रूप कोई सम्बन्ध भी नहीं मिलता कि जिससे प्रयोजन रागी होने का ईश्वर में घटे अतः ईश्वर में राग कल्पना क्लिष्ट है ।

सं०—स्वस्वामिभाव से यदि जगत्कर्त्ता ईश्वर को माने इसमें क्या प्रमाण है ?

## श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥१२॥

प० क्र०—( प्रधान कार्यत्वस्य ) प्रकृति का कार्य ईश्वर के आधीन है इसमें ( श्रुतिः अपि ) श्रुति का प्रमाण है ।

भा०—यजुर्वेद १७।१६ और ऋग्वेद १०।१२६ में ईश्वर का कार्याकार होना ईश्वर के आधीन माना है वह जड़ होने से स्वतन्त्रता से कुछ नहीं कर सकती इसीलिये जगत रचना में निमित्त ईश्वर और उपादान प्रकृति मानी जाती है ।

सं०—उसमें अविद्या का भोग लग सकता है या नहीं ।

## नाविद्याशक्तियोगो निः संगस्य ॥१३॥

प० क्र०—( निः संगस्य ) असङ्ग ब्रह्म योग से ( अविद्या शक्ति योगः ) अविद्या की शक्ति का योग ( न ) नहीं हो सकता ।

भा०—जो सत् से असत् विलक्षण और इसीलिये अनिर्वचनीय शक्ति माया को कहते हैं तो नित्यमुक्त स्वरूप ब्रह्म नहीं रह सकता।

सं०—ब्रह्म के साथ अविद्या का क्या सम्बन्ध है ?

## तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ।१४

प० क०—( तद्योगे ) अविद्या योग प्रमाणित होने पर (तत्सिद्धौ) अविद्या प्रमाणित होने पर ( अन्योऽन्याश्रयत्वम् ) अन्योन्या श्रम दोष आवेगा।

भा०—ब्रह्म के साथ अविद्या का पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं यदि आविद्यक सम्बन्ध माना जावेगा तो आविद्यक सम्बन्ध को स्वसिद्धि के लिये अविद्या माननी पड़ेगी अतः परस्पर अपेक्षा रूप अन्योन्या श्रम दोष होगा।

सं०—बीज़ांकुर न्याय के समान अविद्या का उससे सम्बन्ध अनादि माने तो दोष नहीं आता।

## न बीजांकुरवत् सादिश्रुतेः ।।१५

प० क०—( सादि संसार श्रुतेः ) संसार का आदि है (बीजांकुर वत् ) बीज से अंकुर अंकुर से फिर बीज के समान ( न ) अविद्या तथा उसका सम्बन्ध अनादि नहीं है।

भा०—बीजांकुर न्याय से दोष की निवृति नहीं हो सकती क्योंकि जगत का सादि माना हुआ है वह प्रवाह से भी अनादि नहीं माना जा सकता क्योंकि पहले अविद्या नष्ट हो फिर उस शुद्ध ब्रह्म से सृष्टि प्रवाह हो यदि

माने तो अपसिद्धान्त होने से अन्योन्याश्रय दोष रहता ही है।

सं०—अनिर्वचनीय ख्याति में दोष दिखाते हैं।

**विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः ॥१६॥**

प० क्र०—(विद्यातः) ज्ञान से (अन्यत्वे) भिन्न मानने पर (ब्रह्मबाधप्रसङ्गः) ब्रह्म का बाधक है।

भा०—जिस प्रकार विद्या से भिन्न अविद्या की निवृति विद्या से मानी है उसी प्रकार ब्रह्म का भी बाध होगा क्योंकि वह विद्या से भिन्न है।

सं०—और भी दोष आता है।

**अबाधे नैष्फल्यम् ॥१७॥**

प० क्र०—(अबाधे) बाध न होने पर (नैष्फल्यम्) अविद्या मानना वृथा है।

भा०—यदि विद्या भिन्न होने पर ब्रह्म की विद्या से निवृति न हो तो निष्फल विद्या का फल ही क्या? यदि विद्या बाध नहीं कर सकती तो अविद्या भी निवृत्ति का कारण नहीं।

सं०—अविद्या के लक्षण में दोष देते हैं।

**विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥१८॥**

प० क्र०—(विद्याबाध्यत्वे) विद्या से जो निवृत्ति हो (जगतः) जगत को (अपि) भी (एवम्) अविद्या ही मानना होगा।

सं०—धर्म रूप अदृष्ट की सिद्धि में कुछ प्रमाण भी हैं।

## श्रुतिलिंगादिभिस्तत्सिद्धिः ॥२१॥

प० क्र०—( श्रुतिलिङ्गादिभिः ) वेद तथा अनुमान प्रमाण से ( तत्सिद्धिः ) धर्म रूप अदृष्ट की सिद्धि है।

भा०—पुण्य कर्मों से उत्तम लोक प्राप्ति बतलाई है वह पुण्य कर्म धर्म रूप अदृष्ट हैं और अनुमान से भी सिद्ध है कि शुभाशुभ कर्मों के सुख दुख रूप कर्म भोग मिलते हैं अतः सृष्टि की विचित्रता अदृष्ट रूप कर्मजन्य होने से स्वाभाविक नहीं किन्तु अनुमान प्रमाण पर है।

सं०—अदृष्ट सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं अतः अनुमान का आधार ही क्या है।

## न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥२२॥

प० क्र०—( प्रमाणान्तरावकाशात् ) शब्द और अनुमान प्रमाणों से ( नियमः ) वस्तु सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण आवश्यक ( न ) नियम नहीं।

भा०—यदि अदृष्ट सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो शब्द प्रमाण तो है अतः अनुमान और शब्द अदृष्ट सिद्धि के हेतु हैं।

सं०—धर्म रूप अदृष्ट के तुल्य अधर्म रूप अदृष्ट की सिद्धि भी तो है।

## उभयत्राप्येवम् ॥२३॥

प० क्र०—(उभयत्र, अपि ) धर्म के सदृश अधर्म सिद्धि में भी
• (एवम् ) श्रुति और अनुमान प्रमाण है।

भा०—अथर्ववेद ६ । १२ । ११७ । ३ में स्पष्ट अधर्म रूप अदृष्ट
का भी फल बतलाया है।

सं०—धर्म सिद्धि से अधर्म की भी सिद्धि हो जाती फिर अति-
देश क्यों किया।

## अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥२४॥

प० क्र०—( चेत् ) यदि ( अर्थात् सिद्धिः ) धर्मरूप अदृष्ट की
सिद्धि से अधर्म भी प्रमाणित होता तो ( उभयो ) दोनों
में ( समानम् ) समान आपत्ति होती।

भा०—अर्थात् धर्माधर्म की सिद्धि में आक्षेप बराबर ही रहते
दोनों सापेक्ष न होने से भिन्न २ पदार्थ बतला दिये
और शब्दादि प्रमाण भी दे दिये।

सं०—धर्मादिक यदि पुरुष धर्म माने जावे तो उसमें परिणामि-
त्वादि दोष बनते हैं।

## अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥२५॥

प० क्र०—(धर्मादीनाम् ) धर्मादिक ( अन्तःकरण धर्मत्वम् )
अन्तःकरण के धर्म माने हैं।

भा०—धर्म, अधर्म, सुख-दुख, राग और द्वेष बुद्धि के धर्म हैं
अतः परिणामी होने का दोष पुरुष में नहीं आता यह
धर्म पुरुष में बुद्धि उपाधि से है स्वरूप भूत चैतन्य के
समान नहीं।

सं०—विवेक ज्ञान से धर्मादि की अत्यन्त निवृत्ति होने से सत्कार्य-वाद का खंडन होता है।

## गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ॥२६॥

प० क०—(च) तथा (गुणादीनाम्) धर्मादि की (अत्यन्त बाधः) अत्यन्त निवृति (न) नहीं मानी है।

भा०—जिस प्रकार अग्नि योग से लोहे में उष्णता आती है उसी समान बुद्धि सम्बन्धेन पुरुष में प्रतीत होने वाले धर्मादि को विवेक ज्ञान से निवृति होते हुए भी बने रहते हैं अतः सत्कार्यवाद की हानि नहीं।

सं०—अन्य पुरुषनिष्ट धर्मादिकों का ज्ञान किस प्रकार होता है?

## पंचावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥२७

प० क०—(पञ्चावयवयोगात्) पाँच अवयवों के योग से (सुखसंवितिः) धर्मादि का ज्ञान सहज में होता है।

भा०—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँचों से धर्माधर्म का अनुमान होता है।

सं०—अनुमान के कारण व्याप्ति ज्ञान का निरूपण करते हैं।

## न सकृद्ग्रहणात्सम्बन्धसिद्धिः ॥२८॥

प० क०—(न सकृद्ग्रहणात्) बारम्बार सहचारी ज्ञान से भी (सम्बन्धसिद्धिः) व्याप्ति ज्ञान सिद्ध होता है।

भा०—जब साध्य और साधन का सहचार ज्ञान बारम्बार होता है तो व्याप्ति ज्ञान हो जाता है।

सं०—व्याप्ति का क्या लक्षण है।

**नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२६**

प० क्र० (उभयोः) साध्य और साधन (वा) और (एकतरस्य) एक के नियत धर्म साहित्य ) अव्यभिचारी सम्बन्ध को (व्याप्तिः) व्याप्ति कहते हैं।

भा०—जहां जहां अग्नि) वहां २ धुआं यह सहचारी धर्म व्याप्ति का लक्षण है यही अविनाभाव सम्बन्ध है।

सं०—इस व्याप्ति को व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से क्यों मानें और कोई पदार्थ क्यों न मान लें।

**न तत्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ॥३०॥**

प० क्र०—(वस्तु कल्पना प्रसक्तेः अन्यतन्तु कल्पना गौरव से व्याप्ति (तत्वान्तरम् ) अव्यभिचारी सम्बन्ध से भिन्न (न) नहीं।

भा०—धर्म कल्पना की अपेक्षा धर्मी की कल्पना में गुरुता है अतः यह व्याप्ति सम्बन्ध उपयुक्त नहीं।

सं०—किस प्रकार का अव्यभिचारी सम्बन्ध मानना समीचीन है

**निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥३१॥**

प० क्र०—(निज शक्त्युद्भवम्) वस्तु की स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव को ( आचार्यः इति ) अव्यभिचारी सम्बन्ध आचार्य मानते हैं।

भा०—व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से जिन पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध प्रतीत होता है। उनमें व्याप्य की स्वाभिक शक्ति के आविर्भाव को अव्यभिचारी सम्बन्ध अथवा व्याप्ति सांख्य मत में मानी है।

सं०—पंच शिखाचार्य का सिद्धान्त इसमें यह है।

## आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥३२।

प० क्र० ( आधेय शक्ति योगः ) आधेय शक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। ( इति पंच ( शखा ) यह पंच शिखाचार्य का मत है।

भा०—यह व्याप्य है यह व्यापक है इस सांकेतिक शक्ति को आधेय शक्ति मानकर उसके अव्यभिचारी सन्बन्ध को व्याप्ति माना है अतः आधार में आधेय शक्ति पंच शिखाचार्य के मत में व्याप्ति है।

सं०—आधार की स्वरूप शक्ति को क्यों न व्याप्ति माने आधेय शक्ति के मानने से क्या लाभ।

## न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥३३॥

प० क्र०—( पुनःर्वाद ऽसक्तेः ) पुनरुक्ति दोष से (स्वरूप शक्ति) पदार्थ की स्वरूप शक्तिः ) प्रदार्थ को स्वरूप शक्ति ( नियमः ) व्याप्ति ( न ) नहीं होती।

भा०—अग्नि के साथ धुआं मिला रहता है और उस धुयें को अग्नि रूप ही माने तो पुनरुक्ति होती जो अग्निवृति

कथन नहीं बनता अतएव पदार्थ की स्वरूप शक्ति व्याप्ति नहीं किन्तु आधेय शक्ति का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध व्याप्ति होती है।

सं—इस पुनरुक्ति में हेतु देते हैं।

## विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥३४॥

प० क्र०—(विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः) विशेषण के अर्थ हीन होने से पुनरुक्ति दोष आता है।

भा०—शक्ति और शक्ति वाला यदि समान माना जावे तो यह पुनरुक्ति है अतः व्याप्य शक्ति सम्बन्ध को व्यापक का स्वरूप मानने में भी पुनरुक्ति होगी।

सं०—स्वरूप शक्ति रूप व्याप्ति की असिद्धि में हेतु देते हैं।

## पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥३५॥

प० क्र०—(पल्लवादिषु) वृक्ष के पत्तों में (अनुपत्तेः) स्वरूप शक्ति रूप व्याप्ति से वह व्याप्ति नहीं।

भा०—यदि व्याप्ति स्वरूप शक्ति हो तो वृक्षों के लगे पत्तों से वृक्ष का अनुमान हो जाना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता इस लिये वस्तु की स्वरूप शक्ति व्याप्ति नहीं किन्तु आधेय शक्ति ही है जिसका अव्यभिचारी सम्बन्ध व्याप्ति है।

सं०—आविर्भाव रूप सम्बन्ध शक्ति को व्याप्ति मानने में क्या दोष।

## आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ॥३६॥

प० क०—( समानन्यायात् ) तुल्य शक्ति से ( आधेयशक्तिसिद्धौ ) आधेय शक्ति सिद्ध होने पर (निज शक्ति योगः) आविर्भाव रूप सम्बन्ध का ग्रहण होता है ।

भा०—व्याप्य व्यापक के चिन्हों से होतव्य अव्यभिचारी सम्बन्ध व्याप्ति है । अर्थात् दोनों प्रकार के व्याप्ति चिन्ह की सिद्धि में समानता है अतः स्वरूप भेद नहीं ।

सं०—शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध निरूपण करते हैं ।

## वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥३७॥

प० क० ( शब्दार्थयोः ) शब्द और अर्थ का (वाच्यवाचक भावः ) वाच्य वाचक भाव (सम्बन्धः ) सम्बन्ध है ।

भा०—अर्थ और उसके अर्थ बोध के परस्पर सम्बन्ध को वृत्ति कहते हैं इन शक्ति और लक्षणा दो वृत्तियों का वाच्य वाचक भाव से घना सम्बन्ध है ।

सं—वाक्यार्थ बोध में वृत्ति ज्ञान कारण है अतः हेतु परीक्षा करते हैं ।

## त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ॥३८॥

प० क०—(त्रिभिः) आप्त ( अग्नि, वायु, आदित्य और आंगरा)

का उपदेश (सम्बन्ध सिद्धिः) वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

भा०—तीन प्रकार से वाक्य का अर्थ जाना जाता है आप्तोपदेश, वृद्ध व्यवहार तथा प्रसिद्धपद की समीपता वृत्ति ज्ञान कारण हैं।

सं०—क्या यह सिद्धार्थ बोधक वाक्यों में भी होता है अथवा ज्ञान कार्य बोधक में भी।

## न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ॥३९॥

प० क्र०—(उभयथा दर्शनात्) दोनों प्रकार के वाक्यों में (कार्ये) कार्य बोधक में सम्बन्ध ज्ञान का (नियमः) नियम (न) नहीं है।

भा०—विधि वाक्यों में सम्बन्ध ज्ञान हो सो नहीं सिद्धार्थ बोधक वाक्यों में भी होता है अतः कार्य बोधक वाक्य में ज्ञान सम्बन्ध मानना समीचीन नहीं।

सं०—वेद वाक्यों का सम्बन्ध किस प्रकार होगा?

## लोकेव्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥४०॥

प० क्र०—(लोके) लौकिक वाक्यों में (व्युत्पन्नस्य) व्युत्पन्न वालों को (वेदार्थप्रतीतः) वेद वाक्यों का अर्थ ज्ञान

भा०—जिस पुरुष को लौकिक शब्दों का सम्बन्ध ज्ञान हो चुका हो उसी को वैदिक वाक्यों का भी अर्थ ज्ञान हो सकता है।

सं०—तीन प्रमाणों से सब पदार्थ जाने जाते हैं वेद से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

**न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥४१॥**

प० क्र०—( अपौरुषेयत्वात् ) ईश्वर रचित होने से ( तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात ) उस के अर्थ को अतीन्द्रिय होने से ( त्रिभिः ) तीन प्रमाणों से ( वेदस्य ) वेद का ज्ञान ( न ) नहीं होता।

भा०—वेदार्थ ईश्वर प्रणीत होने से परम सूक्ष्म है उसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जान सकते किन्तु वह अर्थ वेद से ही जाना जाता है।

सं०—धर्म रूप यज्ञादि कर्मों के प्रत्यक्ष होने से वेदार्थ अतीन्द्रिय नहीं हो सकते।

**न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्टयात् ॥४२॥**

प० क्र०—( वैशिष्टयात् ) धर्म फलोत्पादक होने से ( यज्ञादे ) यज्ञ कर्म (स्वरूपतः) स्वरूप से ( धर्मत्वं ) धर्म (न) नहीं है।

भा०—तप यज्ञ स्वाध्यायादि कर्मों के फल वेदार्थ होने से अतीन्द्रिय हैं। यज्ञादि कर्म धर्म-जनक हैं धर्मरूप नहीं अतः धर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता अतएव उन्हें अतीन्द्रिय माना है।

सं०—वेद के अनेक अर्थ होने से अर्थाभास हो जाना सम्भव है।

**निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥४३॥**

प० क०—( निज शक्तिः ) शब्दार्थ का ईश्वरीय चिह्न (व्युत्पत्या) बुद्धि द्वारा (व्यवच्छिद्यते) जाना जाने से ।

भा०—वेदार्थ के निर्णय करने वाली वैदिक बुद्धि है अतः वेदों के अनेकार्थ होते हुये भी अर्थाभास के साथ २ धर्माधर्म का ज्ञान हो सकता है।

सं०—मनुष्यों की भिन्न-भिन्न बुद्धि होने से वेदों के सत्यार्थ का निरूपण नहीं हो सकता ।

**योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात्तत्सिद्धिः ॥४४।**

प० क०—( योग्या-योग्येषु ) योग्य तथा अयोग्य अर्थों में (प्रतीत जनकत्वात् ) योग्यार्थ विश्वासका जनक होने से ( तत्सिद्धिः ) सत्यार्थ सिद्ध होता है।

भा०—वेद-वाक्यों के अर्थाभास से मनुष्य के योग्यायोग्य भेद से अनेक अर्थ सम्भव हैं परन्तु अयोग्य, त्याज्य और योग्य अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

सं०—कार्य तो अनित्य होता है अतः वेद भी अनित्य हुये क्योंकि वह भी तो कार्य ही हैं।

**न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥४५॥**

प० क०—( कार्यत्वश्रुतेः ) कार्यत्व पाये जाने से ( वेदानां ) वेदों की (नित्यत्वं) नित्यता (न) नहीं प्रतीत होती।

भा०—स्मृतियों में वेदों को चार ऋषियों द्वारा प्रकट होना बतलाया है तो उत्पन्न हुआ अनित्य होगा न कि नित्य।

सं०—शंका समाधिः।

## न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ॥४६॥

प० क०—( तत्कर्तुः ) वेदों का बनाने वाला (पुरुषस्य) जीवात्मा के ( अभावात् ) अभाव से ( पौरुषेयत्वं ) वेद कार्य रूप (न) नहीं।

भा०—वेदों का बनाने वाला कोई नहीं अतः उन्हें कार्य रूप नहीं कह सकते वे नित्य हैं। वेद ईश्वरी ज्ञान होने से सदैव से हैं वह तो उस परमेश्वर से उत्पत्ति नहीं किन्तु आविर्भाव में आते हैं। अतः नित्य हैं।

सं०—वेदों का रचयिता पुरुष क्यों न माना ?

## मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥४७॥

प० क०—(मुक्तामुक्तयोः) वद्ध और मुक्त जीवावस्था होने से ( अयोग्यत्वात् ) योग्यता न होने से।

भा०—मुक्त हो जाने पर जीव ब्रह्मानन्द में रहता है। वद्ध पुरुष सर्वज्ञ नहीं होता अतः दोनों वेदों की रचना में असमर्थ होते हैं।

सं०—वेद यदि अपौरुषेय हैं तो सृष्टि भी तो नित्य, अपौरुषेय क्यों न मानी जावे ?

**नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् ॥४८॥**

प० क्र०—( अंकुरादिवत ) कुलहे के सदृश ( अपौरुषेयत्वात् ) अपौरुषेय होने से सृष्टि ( नित्यत्वम् ) नित्य (न) नहीं हो सकती।

भा०—जैसे अंकुर का कर्त्ता ईश्वर नहीं और वह नित्य भी नहीं एवं अपौरुषेय होने से सृष्टि भी नित्य नहीं क्योंकि उत्पन्न हुई थी।

सं०—अंकुरों को अपौरुषेय क्यों कहा ?

**तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥४९॥**

प० क्र०—( तेषां, अपि, तद्योगे ) यदि अंकुर के साथ मनुष्य का कर्त्तापन मानोगे तो ( दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ) अंकुरों में जीव का अकर्तृत्व दोष मानना होगा।

भा०—यदि अंकुरादि में मनुष्य कर्तृत्व का सम्बन्ध माना जावे तो दोषों के प्राप्ति की सम्भावना है।

सं०—कैसे जाना जावे कि यह पौरुषेय है और यह अपौरुषेय है।

**यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥५०॥**

प० क्र०—( अदृष्टे, अपि ) कर्त्ता के न दिखलाई देने पर ( यस्मिन् ) जिस पदार्थ में ( कृतबुद्धिः ) मनुष्य के

कर्त्तापन की बुद्धि ( उपजायते ) उद्भूत हो ( तत् ) वही ( पौरुषेय) पुरुषकृत होता है।

भा०—जैसे नहर को देखकर कहना पड़ता है कि नदी नहीं किन्तु मनुष्य कैसी रचना है अतः मनुष्य कर्तृत्व बुद्धि जिसमें है वह तो पौरुषेय और जिसमें मनुष्य कर्तृत्व न मिले वह अपौरुषेय है। अतः वह मनुष्य कर्तृत्व बुद्धि से परे होने से अपौरुषेय हो हैं।

सं०—वेद स्वतः प्रमाण कैसे हैं?

## निजशक्तयाभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥५१॥

प्र० क्र०—(निज शक्त्याभिव्यक्तेः) ईश्वरीय स्वाभाविक शक्ति से प्रकट (स्वतःप्रामाण्यम्) वेद अपने आपका प्रमाण है।

भा०—सूर्य को बतलाने वाली अन्य वस्तु आवश्यक नहीं प्रत्युत वह अन्य पदार्थों को आलोकित करता है इसी प्रकार ईश्वरीय स्वाभाविक शक्ति से उत्पन्न वेद भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते अतएव स्वतः प्रमाण हैं।

सं०—भ्रान्ति ज्ञान वादियों के मत को दिखाते हैं और अपना सिद्धान्त पुष्ट करते हैं।

## नासतः ख्यानं नृशृंगवत् ॥५२॥

प्र० क्र०—( नृशृङ्गवत् ) मनुष्य के सींग होने के सदृश (असतः शून्य वस्तु (ख्यानं) प्रतीति में (न) नहीं आता।

भा०—जैसे मनुष्य के सींग नहीं होते इसी प्रकार असत पदार्थ प्रतीति से परे होता है।

सं०—भ्रम होने पर पुरुष भी लकड़ी का ठूंठ दिखलाई देता है।

## न सतो बाधदर्शनात् ॥५३॥

प्र० क्र०—(बाधदर्शनात्) बाध होने से (सतः) विज्ञान की प्रतीति (न) नहीं होती।

भा०—“यह रज है, यह रज नहीं” यह दो प्रकार से ज्ञान के साथ २ यह भी निश्चय होना कि दोनों न होते हुये भी यह सीपी है यह जो शुक्त्याकार ज्ञान है उसका नाश न होने से विज्ञानवादी के मत का विज्ञान सदैव रहता है, परन्तु एक ज्ञान के उत्तर में दूसरा ज्ञान होना उसके विज्ञान का बाधक भी है (अतः विज्ञान वाद नहीं बनता।

सं०—सतासत से विलक्षण होने से अनिर्वचनीय होता है अतः उसका रूप दिखाते हैं।

## नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ॥५४॥

प्र० क्र० (तद् भावात्) सतासत से विलक्षण (अनिर्वचनीयस्य) अनिर्वचनीय वस्तु प्रतीति (न) नहीं होती।

भा०—सीप में यह ज्ञान कि यह चांदी है वहां अनिर्वचनीयता है इस अविद्या परिणाम से अनिर्वचनीयत्व कथन इसलिये ठीक नहीं कि घटादि सत और शशशृङ्गादि असत पदार्थों से अतिरिक्त कोई सतासत से विलक्षण प्रमाणित नहीं होते अतः वह प्रतीति अनिर्वचनीय नहीं।

सं०—यदि भ्रान्ति के समय विपर्यय ज्ञान स्वीकार करे तो क्या दोष।

## नान्यथाख्यातिः स्ववचोऽव्याघातात् ॥५५॥

प० क्र०—( स्ववचोऽव्याघातात् ) अपने कथन विरोध में (अन्यथा ख्याति ) मिथ्या ज्ञान ( न ) नहीं बनता।

भा०—सद्सत् से विलक्षण अनिर्वचनीय पदार्थ वचन विरोध कारण से नहीं घट सकता।

सं०—स्वसिद्धान्त कहते हैं।

## सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ॥५६॥

प० क्र०—( वाधा बाधात् ) बाध तथा अवाध कारण वश ( सद् सत् ख्याति ) सद् सत ख्याति मानना ठीक नहीं।

भा०—रजतादि ज्ञान को विषय रज तादिक सीपी देश से भिन्न देश में बने रहने से वह कारण सत् है परन्तु वही सीपी देश में असत् है इसलिये वाधावाध दशा में यह अख्यातियां असत, आत्म और अनिर्वचनीय वेद विरोधियों ने मानली है परन्तु वैदिक सिद्धान्त अन्यथा और सद् सतख्याति ही मानता है।

सं०—स्फोट शब्द तो नित्य है।

## प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥५७॥

प० क्र०—( प्रतीति प्रतीतिभ्याम् ) प्रीतीति और अप्रतीति वश शब्दः ( स्फोटात्मक ) स्फोट रूप ( न ) नित्य नहीं।

भा०—मीमांसक और वैया करण लोग शब्द स्फोट रूपसे नित्य मानते हैं नित्य शब्द स्फोट प्रतीति में नहीं आता। अतः यह नित्य नहीं मानना चाहिये।

सं०—इस का समर्थन करते हैं।

## न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥५८॥

प० क०—( कार्यता प्रतीतेः ) कार्यत्व कर्म प्रतीति से ( शब्द नित्यत्वं ) शब्द नित्य है।

भा०—जिस प्रकार हाथ पांव आदि होने से शरीर अवयवो का ज्ञान होता है उसी प्रकार अर्थ प्रतीति हेतु से स्फोट शब्द नित्य है।

सं०—शब्द किस प्रकार आविर्भाव में आता है।

## पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ॥५९॥

प० क०—( दीपेन ) दीपक से ( घटस्य ) घड़े की ( इव ) सदृश ( पूर्वसिद्ध सत्त्वस्य ) पूर्व वर्तमान शब्द (अभिव्यक्तिः आविर्भाव होता है।

भा० कारण व्यापार से पूर्व सत्व का आविर्भाव होता है न कि उत्पत्ति जिस प्रकार सिद्ध घट का प्रदीप से आविर्भाव होता है उसी प्रकार ध्वनि व्यञ्जनादि से ध्वनि उत्पत्ति तथा लय की प्रतीति स्फोट रूप शब्द से भ्रम से है।

सं०—शब्द अभिव्यक्ति यदि मानोगे तो सत्कार्य बाद मानना होगा।

## सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धिसाधनम् ॥६०॥

प० प्र०-( चेत ) यदि ( सत्कार्य सिद्धान्तः ) सत्कार्य माना जावे तो दोष नहीं क्योंकि ( सिद्ध साधनम् ) सिद्ध वस्तु साधन से सत्कार्यवाद मनोतीत है ।

भा०—शब्द अभिव्यक्ति में सत्कार्यवाद माननीय है और यही इष्ट भी है ।

सं०—चेतनों के परस्पर भेद कहते हैं ।

## नाद्वैतमात्मनो लिंगात तद्भेदप्रतीतेः ॥६१॥

प० क्र०—( लिङ्गात् ) सुख दुखादि लिंग से ( तद्भेद प्रतीतेः ) जीव भेद है अतः ( आत्मनः ) आत्मा की ( अद्वैत ) एकता ( न ) नहीं ।

भा० — सुखो दुखी ऊंच नींच देख कर यह प्रतीत होती है आत्मा अनेक है यदि एक ही आत्मा होती तो एक के सुखो से सब सुखी होते अतः आत्मा अनेक हैं ।

सं०—जड़ चेतन की एकता में बाधकता ।

## नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥६२॥

प० क्र०-( अनात्मना ) अनात्म पदार्थों में ( प्रत्यक्ष बाधात् ) आत्मा की एकता का प्रत्यक्ष बाध होता है इसलिये ( अपि ) भी ( न ) जड़ चेतन एक नहीं ।

भा०—अनात्म और आत्म पदार्थ जड़ चेतन भेद से भिन्न २ है ।

सं०—इन युक्तियों का उपसंहार करते हैं ।

## नोभाभ्यां तेनैव ॥८३॥

प० क्र०—( तेनएव ) दोनों हेतुओं से ( उभाभ्यां ) आत्म तथा अनात्म पदार्थ कृत एकता ( न ) नहीं।

भा०—जीव में सुख दुख भेद पाये जाने से हेतुओं द्वारा अद्वैत बाद सिद्ध नहीं होता।

सं०—आत्मा एक होने से आत्म एकता सिद्ध होती है।

## अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥८४॥

प० क्र०—( तत्र ) वाक्यों में ( आविवेकाना ) अविवेकी पुरुषों में ( अन्यपरत्वम् ) प्रकृति पुरुष सम्बन्धी एकता विदित होती है।

भा०—आत्मा की एकता पाये जाने से एक आत्मा ही है वहां चेतन प्रतिपादक में जड़ का कथन नहीं है।

सं०—आत्मा और अविद्या की उपादान कारणता का खण्डन।

## नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात ॥८५॥

प० क्र०—( निः सङ्गत्वात् ) आसंग होने से आत्मा और मिथ्या होने से अविद्या ( जगदुपादान कारण) जगत उपादान कारण ( न ) नहीं और ( उभयं ) दोनों मिल कर (न) नहीं।

भा०—जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है।

## नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात ॥६६॥

प० क्र०-( द्वयोः ) दोनों का ( भेदात् ) भेद होने से ( एकस्य ) जीवात्मा ( आनन्दचिद्रूपत्वे ) आनन्द तथा चेतन स्वरूप मिल कर ( न ) नहीं।

भा०—आनन्द और चेतन का भेद है इस से प्रमाणित है कि आत्मा चिद्रूप है परन्तु आनन्द रूप नहीं।

सं०—आनन्द स्वरूप यदि जीवात्मा नहीं तो मैं आनन्द में हूँ। यह प्रतीति किस को है।

## दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥६७॥

प० क्र०—( दुःख निवृत्तेः ) दुख निवृति से ( गौणः ) सुख की प्रतीति गौण हैं।

भा०—आत्मा में सुख प्रतीति का होना उसके सुख स्वरूप होने का कारण नहीं किन्तु दुख भूल कर सुखानुभव के कारण है।

सं०—मुक्तावस्था वह आनन्दस्वरूप क्यों कहलाया।

## विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥६८॥

प० क्र०-( विमुक्तप्रशंसा ) मुक्तावस्था में आनन्द रूप होना (मन्दानाम) अज्ञानी कहते हैं।

भा०—यह अज्ञान है कि वह आनन्द स्वरूप हो जाता है वह तो ब्रह्मानन्द उपभोग से आनन्दी कहलाता है।

सं०—मन व्यापक नहीं।

## न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥६९॥

प० क्र०–(करणत्वात) करण होने से (वा) अथवा (इन्द्रियत्वात्) इन्द्रिय होने से (मनसः) मनकी, (व्यापकत्वं) व्यापकता की सिद्धि (न) न होने से।

भा०—जैसे कुठार से छेदनादि क्रिया साधकतम होने से करण कहलाती है और वह व्यापक नहीं इसी प्रकार सुख-दुखादि ज्ञान का अत्यन्त साधक होने से व इन्द्रिय-रूप होने से मन व्यापक नहीं।

सं०—मन परिच्छिन्न है।

## सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ॥७०॥

प० क्र०–( गतिश्रुतेः ) गति पाये जाने से मन ( सक्रियत्वात् ) क्रियाशील है अतः व्यापक नहीं।

भा०—मन सहित आत्मा लोक-लोकान्तरों में जाता है अतः वह व्यापक नहीं।

सं०—मन तो अणुपरिमाण वाला है क्योंकि परिच्छिन्न है।

## न निर्भागत्वंतद्योगात् घटवत ॥७१॥

प० क्र–( घटवत् ) घड़े के समान, ( तद्योगात् ) सावयव होने से मन ( निर्भागत्वं ) अणुपरिमाण है (न) नहीं।

भा०—जैसे कड़ा कपड़ा सावयव होने से अणुपरिमाण वाले नहीं वैसे ही मन भी सावयव होते हुये भी अणु नहीं। किन्तु मध्यम परिमाण वाला है।

सं०—मन नित्य है तो सावयव कैसे ?

## प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ।७२॥

प० क्र०—( प्रकृतिपुरुषयोः ) प्रकृति पुरुष से ( अन्यत् ) भिन्न ( सर्वम् ) सब ( अनित्यम् ) अनित्य है ।

भा०—जीव ईश्वर और प्रकृति तीन नित्य पदार्थ हैं इन से भिन्न सब अनित्य हैं अतः मन भी अनित्य है ।

सं०—जीव को सावयव मानने में क्या दोष है ?

## नभागलाभोभागिनोनिर्भागत्वश्रुतेः ॥७३॥

प० क्र०—( निर्भागत्वश्रुतेः ) निरवयव होने से ( योगिनः ) जीवका (भाग लाभः) सावयव होना सिद्ध (न) नहीं ।

भा०—यदि जीव सावयव हो जावे तो घड़े के सदृश अनित्य हो जायेगा ।

सं०—अवैदिक मतों की युक्तियों का खण्डन ।

## नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥७४॥

प० क्र०—( निर्धर्मत्वात् ) धर्मरहित (आनन्दाभिव्यक्तिः) आनन्द का आविर्भाव ( मुक्ति ) मुमोक्ष (न) नहीं ।

—संसारावस्था में जिन कर्मों से जीव दब जाता है मोक्षावस्था में उन्हीं से आविर्भाव होने को मोक्ष कहते हैं अतः आनन्द धर्म रहित जीवात्मा मुक्ति अवस्था में आनन्द की अभिव्यक्ति वाला नहीं ।

सं० —ज्ञानादि विशेष गुणों का नाश रूप मुक्ति मानने में दोष क्या है ?

## न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥७५॥

प० क्र०—( तद्वत् ) आनन्दो की भांति ( विशेषगुणोच्छित्तिः ) विशेष गुणों का नाश मुक्ति (न) नहीं ।

भा० —जिस प्रकार अधर्मी आत्मा को मुक्ति का आविर्भाव नहीं उसी प्रकार आत्मा और मन के संयोग से उद्भूत ज्ञानादि गुण का अत्यन्ताभाव भी मुक्ति नहीं क्योंकि गुणों का अत्यन्तबाध नहीं होता ।

सं०—क्या लोक विशेष की प्राप्ति मुक्ति नहीं ।

## न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥ ७६ ॥

प० क्र०—( निष्क्रियस्य ) क्रिया रहित जीवात्मा ( विशेषगतिः ) देश विशेष में मिलने वाली मुक्ति (न) नहीं ।

भा०—मुक्ति दशा में जीव कर्म रहित होता है अतः कर्मजन्य लोकविशेष की प्राप्ति नहीं होती ।

सं०—क्षणिकमुक्ति में यह दोष है ।

## नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥७७

प० क्र०—( क्षणिकत्वादि दोषात् ) क्षणिकादि दोष ( आकारोपरागोच्छित्तिः) वासना रूप सम्बन्ध का नाश भी मुक्ति (न) नहीं ।

भा०—क्षणिकवादी राग का नाश नहीं मानते क्योंकि एक क्षण के पश्चात् फिर नहीं ठहरता इसलिये मुक्ति ही क्या हुई।

सं०—सर्वनाश रूप निर्वाण मुक्ति भी नहीं है।

**न सर्वोच्छित्तिः पुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ ७८ ॥**

प० क०—( अपुरुषार्थत्वादि दोषात् ) अपुरुषार्थत्वादि दोषों के कारण ( सर्वोच्छित्तिः ) सबका नाश मुक्ति (न) नहीं।

भा०—इस मुक्ति में कि जिसमें सर्वनाश हो उस निर्वाण से क्या लाभ सिद्ध होगा अतः सर्वनाश मुक्ति ठीक नहीं।

सं०—शून्यवादी की मुक्ति।

**एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥**

प० क०—( एवं ) उस भांति (शून्यं) शून्य भी (अपि) मुक्ति नहीं।

भा०—अतः शून्यवादी की मुक्ति में भी दोष है।

सं०—देश विदेश की प्राप्तिका मुक्ति हो सकतो है।

**संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादि-लाभोऽपि ॥ ८० ॥**

प० क०—संयोगाः, च, वियोगान्ताः इति न, ( देशादि लाभः ) अपि।

भा०—संयोग का अवश्य वियोग होगा इसलिये देशादिक लाभ भी मुक्ति समीचीन नहीं।

सं०—अशांशी भाव रूप सम्बन्ध का नाम मुक्ति है।

**न भागियोगो भागस्य ॥ ८१ ॥**

प० क०-(न, भागियोगः) भागस्य ।

भा०—जीवेश्वर दोनों निरवयव हैं उनका मिलजाना भी मुक्ति नहीं जहां जीव अंशी कहा है वहां एक देशी अभिप्राय है यथार्थ नहीं । जीवेश्वर का अंशांशी भाव मानने में अनित्यादि दोष आते हैं ।

सं०—अणिमादि सिद्धियां प्राप्ति मुक्ति मानने में क्या दोष ।

**नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत् ॥८२॥**

प० क०-( न, अणिमादि योगः ) अपि, ( अवश्यंभावित्वात् ) तदुच्छित्ते इत ( योगवत् ) ।

भा०—अणिमादि सिद्धियों के मिलने से भी मुक्ति नहीं मिलती क्योंकि दूसरे ऐश्वर्य के समान उनका नाश अवश्य होता है ।

सं०—इन्द्रादिपद प्राप्ति से मुक्त मानने में क्या दोष ।

**नेन्द्रादिपदयोगोऽपितद्वत् ॥८३॥**

प० क०—न, इन्द्रादिपद भोगः ( अपि ) तद्वत ।

भा०—अणमादि सिद्धियों के समान इन्द्रादि पद भी प्राप्त होने पर नाशवान होने से मुक्ति नहीं हो सकती ।

**न [illegible]-कत्वश्रुतेः ॥८४॥**

प० क०—न भूत प्रकृतित्वम्, इन्द्रियाणाम्, अहंकारिकत्व श्रुतेः

भा०—अहंकार द्वारा उत्पति होने से इन्द्रिय भूतों के कार्य नहीं हो सकते ।

सं०—स्वस्वरूप की पवित्रता और ईश्वर धर्मों की प्राप्ति रूप मुक्ति को स्पष्ट करने के लिये बहिरंग साधनों का निराकरण करते हैं ।

## न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥८५॥

प० क्र०—न, षट् पदार्थ नियमः तद्बोधात्, मुक्ति ।

भा०—जिस बोध से मुक्ति होती है उनके छः पदार्थों का नियम नहीं है ।

सं०—सोलह पदार्थों का अति देश करते हैं ।

## षोडशादिष्वप्येवम् ॥८६॥

प० क्र०—शोडशादिशु, अपि, एवन् ।

भा०—इसी भाँति सोलह पदार्थों के ज्ञान से भी मुक्ति नहीं होती।

सं०—त्रसरेणुओं की नित्यता का निराकरण करते हैं ।

## नाणुनित्यतातत्कार्यत्वश्रुतेः ॥८७॥

प० क्र०—न, अणु नित्यता, तत्कार्यतत्व श्रुतेः ।

भा०—प्रकृति का कार्य होने से त्रसरेणु नित्य नहीं हो सकते ।

सं०—निरवयव अणु अनित्य कैसे ।

## न निर्भागत्वं कार्यत्वत ॥८८॥

प० क्र०—न, निर्भाणत्व, कार्यत्वात ।

भा०—कार्य रूप होने से त्रसरेणु निरवयव नहीं हो सकते ।

सं०—द्रव्यों के प्रत्यक्ष रूप की कारणता का खंडन करते हैं।

**न रूपनिबन्धात् प्रत्यक्षनियमः ।८९॥**

प० क्र०—न, रूप निबन्धनात्, प्रत्यक्ष नियमः

भा०—केवल रूप में प्रत्यक्ष होने का नियम नहीं।

सं०—चार प्रकार के परिमाण की अनियमता कहते हैं।

**न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ॥९०॥**

प० क्र०—न, परिमाण चातुर्विध्यं, द्वाभ्यां, तद्योगात्।

भा०—दो परिमाणों से ही व्यवहार सिद्धि होने से चार परिमाणों का मानना समीचीन नहीं।

सं०—जाति को प्रकृति से भिन्न दिखाते हैं।

**अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ।९१॥**

प० क्र०—अनित्यत्वे, अपि, स्थिरतायोगात्, प्रत्यभिज्ञानात् सामान्यस्य,

भा०—घटादि अनित्य पदार्थों के होने पर उनकी स्थिरता के सम्बन्ध से सामान्य की प्रतीति होती है।

सं०—प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति मूलक न हो उससे सामान्य सामान्य की सिद्धि नहीं।

**न तदपलापस्तस्मात् ।९२॥**

प० क्र०—तदपलापः तस्मात्

भा०—उस प्रतिभिज्ञा हेतु से सामान्य भ्रान्ति मूलक नहीं हो सकता।

सं०—यदि अन्योन्याभाव रूप मानें तो पदार्थान्तर मानने की क्या आवश्यकता ।

प० क्र०—न, अन्य निवृत्ति रूपत्वं भाव प्रतीतेः

भा०—भाव रूप प्रतीति से सामान्य अन्य पदार्थ का अभाव रूप नहीं हो सकता ।

सं०—अवपूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

## न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ।९४॥

प० क्र०—न तत्वान्तरं, सादृश्ये, प्रत्यक्षोपलब्धे

भा०—प्रत्यक्ष से प्राकृत रूप की उपलब्धि होने से सामान्य पदार्थान्तर नहीं ।

सं०—प्रकृति से भिन्न सामान्य पदार्थान्तर न होने से युक्ति देते हैं ।

## निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः ॥९५॥

प० क्र०—निज शक्त्याभि व्यक्तिः, वा, वैशिष्ट्यात, तदुपलब्धेः

भा०—साधारण प्रतीत से अथवा पदार्थ और शक्ति संयोग से प्राकृत शक्ति का होना ही सामान्य है !

सं०—सामान्य के पदार्थान्थर होने का दूसरा प्रकार निरस्त करते हैं ।

## न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥९६॥

प० क्र०—न संज्ञा संज्ञि सम्बध, अपि,

भा०—संज्ञा संज्ञि के सम्बन्ध से भी सामान्य पदार्थान्तर नहीं हो सकता।

सं०—हम सम्बन्ध को यदि नित्य मान लें तो क्या हानि।

**न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् ॥९७॥**

प० क्र०—न, सम्बन्ध नित्यता, उभयानित्यत्वात्

भा०—दोनों के अनित्य होने से सम्बन्ध की नित्यता स्थापित नहीं हो सकती।

सं०—नित्य पदार्थों का सम्बन्ध नित्य होता है।

**नातः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥९८॥**

प० क्र०—न, अजः सम्बन्ध, धर्मिग्राहक मानबाधात्।

भा०—सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। उत्पन्न होने वाला सम्बन्ध तो हो भी नहीं सकता।

सं०—जाति और व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध मानने में क्या दोष है?

**न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥९९॥**

प० क्र०—न, समवायः, अस्ति, प्रमाणाभावात्।

भा०—कोई प्रमाण न मिलने से जाति और व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध नहीं बनता।

सं०—प्रत्यक्ष और अनुमान के मानने में क्या दोष है?

**उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥१००॥**

प० क्र०—उभयत्र, अपि, अन्यथा, सिद्धेः, न, प्रत्यक्षं, अनुमानं, वा

भा०—समवाय के प्रत्यक्ष और अनुमान विषय में स्वरूप सम्बन्ध से भी जाति व्यक्ति के समवाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण नहीं हो सकते।

सं०—जाति व्यक्ति का समवाय अनुमान से सिद्ध न हो पर क्रिया और क्रियावान समवाय तो अनुमान सिद्ध हैं।

**नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतो रेवापरोक्षप्रतीतेः ॥१०१॥**

प० क्र०—न, अनुमेयत्वं, एव, क्रियाया, नेदिष्ठस्य, तव, तद्वतो, एव, अपरोक्ष प्रतीते।

भा०—अति पास के पुरुष को क्रिया का अनुमान नहीं होता निश्चयपूर्वक क्रिया और क्रिया वाले की अपरोक्ष प्रतीति से स्वरूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है न कि समवाय का।

सं०—स्थूल शरीर किसे कहते हैं?

**न पांचभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् १०२**

प० क्र०—न, पाचभौतिकं, शरीरं, बहूनां, उपादान योगात्।

भा०—शरीर पांच भूतों का नहीं क्योंकि बहुत पदार्थ एक कार्य के उपादान कारण नहीं होते।

सं०—स्थूलक शरीर ही दुख सुख का भोक्ता है फिर शरीरान्तर क्यों माना जावे।

## न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥१०३॥

प० क्र०—न, स्थूलं, इति, नियमः, आतिवाहिकस्य, अपि, विद्यमानत्वात् ।

भा०—लिंग शरीर के भी विद्यमान रहने से स्थूल शरीर ही है यह कोई ऐसा नियम नहीं ।

सं०—जब इन्द्रियां विषय देश को प्राप्त होती हैं तभी इन्द्रियां उनकी प्रकाशक होती हैं ।

## नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥१०४॥

प० क्र०—न, अप्राप्तप्रकाशत्वं, इन्द्रियाणां, अप्राप्तेः, सर्वप्राप्तेः ।

भा०—इन्द्रियों का अप्राप्त पदार्थ को प्रकट करने का स्वभाव नहीं क्योंकि पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकाश नहीं होता और सर्वथा प्राप्ति पर ज्ञान होता है ।

सं०—चक्षुतैजस इन्द्रिय सूर्य किरण आदि देश से ही प्राप्त होकर प्रकाश देती है फिर इन्द्रिय देश में विषय क्यों माने ।

## न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ॥१०५॥

प० क्र०—न, तेजोपसर्पणात्, तैजसे, चक्षु वृत्तितः, तत्सिद्धेः ।

भा०—चक्षुवृत्ति से विषय प्रकाश की सिद्धि से तेज का कार्य-

चक्षु तेज के बाहर निकलने से विषय का ग्रहण नहीं होता।

सं०—वृत्ति के मानने में क्या प्रमाण है ?

**प्राप्तार्थप्रकाशलिंगात् वृत्तिसिद्धिः ॥१०६॥**

प० क्र०—प्राप्तार्थ प्रकाशलिंगात्, वृत्तिसिद्धिः।

भा०—प्राप्त पदार्थ के प्रकाश करने के कारण वृत्ति की सिद्धि है।

सं०—वृत्ति अन्तःकरण का विभाग है अथवा गुण।

**भागगुणाभ्यां तत्वान्तरं वृत्तिः संम्बन्धार्थं सर्पतीति ॥१०७॥**

प० क्र०—भाग गुणाभ्यां, तत्वान्तरं, वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पति, इति।

भा०—भाग और गुण दोनों से वृत्ति पदार्थान्तर है वह पदार्थ के सम्बन्ध के लिये क्रिया करता है इसलिये आंख आदि इन्द्रियों का भाग नहीं।

सं०—यदि इन्द्रियाँ द्रव्य मानी जावें तो चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय सम्बन्ध माना जावे अन्यथा वह अहंकार के कार्य हैं उनका विषय से संयोग कैसे हो सकता है।

**न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥ १०८ ॥**

प० क्र०—न द्रव्य नियमः तद्योगात्

भा०—विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से यह दोनों द्रव्य हैं हम द्रव्य का नियम नहीं मानते।

सं०—इन्द्रियां अहंकार का कार्य है फिर इन्हें भूतों का कार्य क्यों माने।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानतास्मदादिवन्नियमः ॥१०९॥

प० क्र०—न, देश भेदे, अपि, अन्योपादानता, अस्मदादिवत्, नियमः ।

भा०—इन्द्रियों का ग्रहण विषयों से भेद होने पर भी वह हमारे शरीर के समान इन्द्रियों के भिन्न २ उपादानता का नियम नहीं कहा जा सकता ।

सं०—शास्त्र में इन्द्रियों को भूतों का कार्य क्यों माना ।

निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः ॥११०॥

प० क्र०—निमित्तव्यपदेशात्, तद् व्यपदेशः

भा०—निमित्त होने से भौतिक होने का उपदेश है ।

सं०—शरीर भेदों का निरूपण करते हैं ।

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिक-
सांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥१११॥

प० क्र०—ऊष्मजाण्डज जरायुजोद्भिज्ज सांकल्पिक सांसिद्धिकं च । इति, न नियमः ।

भा—गर्मी से उत्पन्न होने वाले कृमि कीट अंडे से पक्षी आदि जेर से मनुष्य आदि, पृथ्वी से वृक्षादि, सांकल्पिक और अयोनिजी सृष्टि के, सांसिद्धक योगियों के शरीर यह छः प्रकार के शरीर हैं चार नहीं ।

सं०—पुरुषों को तो चार प्रकार विदित हैं यहाँ छः बतलाये हैं ।

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यप-
देशः पूर्ववत् ॥ ११२ ॥

प० क०—सर्वेषु पृथिव्युपादानम्, असाधारण्यात् वद व्यपदेश-
पूर्ववत्।

भा०—सब शरीरों में पृथ्वी को उपादान कारण मान लेने से
मुख्यता से निरूपण किया गया है।

सं०—शरीर यदि भौतिक है तो शरीर के भीतर प्राणों को भी
भौतिक मानना ठीक है।

**न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्ति-
तस्तत्सिद्धेः ॥११३॥**

प० क०—न देहारम्भकस्य प्राणत्वम् इन्द्रिय शक्तितः तत्सिद्धेः

भा०—भूतों के समुदाय से देह राग होता है वह प्राणों का जनक
नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियों को जन्म देने वाली
जो अहंकार रूप शक्ति है उससे प्राणों की सिद्धि
मिलती है।

सं०—जीव शरीर में किस समय जाता है, गर्भाधान समय या
कालान्तर में।

**भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा
पूतिभावप्रसंगात् ॥११४॥**

प० क०—भोक्तुः अधिष्ठानात्, भोगायत निर्माण, अन्यथा पूति
भाव प्रसङ्गात्।

भाव—भोक्ताजीवात्मा के आश्रय करने से भोग के साधन भूत
शरीर की रचना होती है यदि बिना जीव के आश्रयण

के उसकी रचना हो तो वह गल जाय और निर्माण शरीर का न हो सके।

सं०—जीव तो कूटस्थ है उसमें शरीर का अधिष्ठातृत्व और भोक्तृत्व कैसे।

## भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ॥११५॥

प० क्र०—भृत्य द्वारा, स्वामी, अधिष्ठितः न एकान्तम्

भा०—लिङ्ग शरीर भृत्य द्वारा स्वामी रूपी जीव शरीर का अधिष्ठाता है बिना लिंग शरीर के नहीं हो सकता।

सं०—समाधिकाल में जीव अपने आपको शरीरादिकों का अधिष्ठाता क्यों नहीं मानता।

## समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥११६॥

प० क्र०—समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु, ब्रह्म रूपता।

भा०—समाधि अवस्था में जीव अपने आपको शरीर का भोक्ता और अधिष्ठाता इसलिये नहीं मानता कि इन अवस्थाओं में वह ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को धारण कर लेता है और जीवात्मा का परमात्मा के साथ योग होता है।

सं०—ब्रह्म रूपता और मोक्ष में क्या अन्तर है।

## द्वयोःसबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥११७॥

प० क्र०—द्वयोः सबीजम, अन्यत्र, तद्धतिः

भा—समाधि और सुषुप्ति में बन्ध का बीज अविद्या बनी रहती है और मुक्ति में इसका नाश हो जाता है।

सं०—समाधि और सुषुप्त को तो मनुष्य जीवित अवस्था में ही अनुभव कर लेता है परन्तु मुक्ति के होने में क्या प्रमाण है।

**द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥११८॥**

प० क्र०—द्वयोः, इव, त्रयस्य, अपि दृष्टत्वात् तु द्वौ।

भा०—दोनों के सदृश तीसरी मुक्ति भी देखी जाती है दो ही अवस्था में नहीं है।

सं०—सुषुप्ति में ब्रह्म रूपता कैसे होती है।

**वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ॥११९॥**

प० क्र०—वासनाया, अनर्थख्यापनं दोष योगे अपि, न निमित्तस्य प्रधान बाधकत्वम्।

भा०—प्रधान बाधक होने से सुषुप्ति आदि के प्रति निद्रारूपी दोष के होने पर भी कर्मों की वासनायें आत्मा से भिन्न विषय रूपी अनर्थ का बाधक नहीं हो सकतीं।

सं०—क्या एक संस्कार से जीवन मुक्त नहीं हो सकता।

**एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः १२०**

प० क्र०—एकः संस्कारः क्रिया निर्वर्तकः न तु प्रति क्रिया संस्कार भेदा बहु कल्पना प्रसक्तेः।

भा०—एक ही संस्कार जीवन्मुक्त की जीवन यात्रा का साधक हो

सकता है एक २ क्रिया के लिये अनेक संस्कार भेद मानना ठीक नहीं क्योंकि अनिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। एक ही शरीर जो जीवन्मुक्त हुआ है समस्त भोगों के लिये पर्याप्त है परन्तु बारम्बार शरीर भोग सिद्ध करने के लिये नाना संस्कार धारा मानना समीचीन नहीं।

सं०—बाह्य बुद्धि से तो वृक्षादि में भी भोग योनि हो सकती है फिर वह स्थावर क्यों?

**न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पति-तृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥१२१॥**

प० क्र०—न, बाह्य बुद्धि नियमः, वृक्ष गुल्म लतौषधि वनस्पति तृण वीरुधादीनाम्, अपि, भोक्तृ भोगायतनत्वम्। पूर्ववत्।

भा०—बाह्य बुद्धि से स्थावर शरीरों के भोक्ता होने का नियम नहीं है क्योंकि वृक्षादिकों का भी भोगायतन मनुष्य के समान पाया जाता है।

सं०—स्मृति से भी यही प्रमाणित है।

**स्मृतेश्च ॥१२२॥**

प० क्र०—स्मृतेः, च।

भा०—स्मृति से भी स्थावर शरीरों की सिद्धि प्रमाणित होती है।

सं०—इन योनियों में कर्म करने का अधिकार क्यों नहीं।

**न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः ॥१२३॥**

प० क्र०—न, देह मात्रतः, कर्माधिकारिता, वैशिष्ट्य श्रुतेः ।

भा०—कर्म करने और भोगने में जीवों का अधिकार है इसलिये शरीर मात्र से कर्मों में अधिकार उत्पन्न नहीं होता ।

सं०—कर्मों का फल देह तो सब का एक सा है फिर भेद क्यों ?

## त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः १२

प० क्र०—त्रिधा, त्रयाणां व्यवस्था कर्म देहोपभोग देहाभय देहाः ।

भा०—उत्तम मध्यम और निष्कृष्ट तीन प्रकार के जीवों की व्यवस्था है जो उत्तम है वह केवल कर्म देह वाले हैं । जो मध्यम है वह कर्म भोग देह वाले हैं और निकृष्ट केवल भोग देह वाले हैं ।

सं०—वृक्षों की गणना इन शरीरों में क्यों नहीं ?

## न किंचिदप्यनुशयिनः ॥१२५॥

प्र० क्र०—न, किंचित, अपि, अनुशयिनः

भा०—वृक्षादि में जो जीव है उसकी कोई भी योनि नहीं है ।

सं०—इन बुद्धि आदि ज्ञान नित्य क्यों नहीं ।

## न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वन्हि-वत् ॥१२६॥

प्र० क्र०—न, बुद्धियादि नित्य त्वम्, आश्रय, विशेषे, अपि वह्निवत ।

भा०—जैसे राख आदि से अग्नि ढकी रहती इसी प्रकार आश्रय विशेष से इनका ज्ञान छिपा रहता है अतः उनका बुद्धयादि ज्ञान नित्य नहीं ।

सं०—इसमें युक्ति देते हैं।

## आश्रयासिद्धेश्च १२७।

प० क्र०—आश्रयासिद्धेः। च.

भा०—चक्षुः आदि ज्ञान जन्य इन्द्रियों से गोलकों के न होने से वृक्षादि भोग योनि नहीं हो सकते।

सं०—योग की सिद्धियों का औषधि के दृष्टान्त से समर्थन करते हैं।

## योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥१२८॥

प० क्र०—योग सिद्धयः अपि, औषादि सिद्धिवत्, न, अपलपनीयाः।

भा०—योग की सिद्धियें भी औषधि आदि के अमोघ प्रवाह रखने के समान त्याज्य नहीं।

सं०—चेतन की सिद्धि उद्देश्य से समाप्त करते हैं।

## न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ॥१२९॥

प० क्र०—( प्रत्येका दृष्टेः ) अलग २ चेतनता न होने से ( भूत चैतन्यं ) भूतों में चेतनता ( न ) न हों (च) तथा उनके (सांहत्ये) समूह में (अपि) भी चेतनता नहीं हो सकती।

भा०—प्रकृति पुरुष के विवेकपूर्वक सदसद् विवेचन से अध्याय समाप्त करते हुये कहते हैं कि भूतों में न अलग २ और न समुदाय रूप से चेतन है। यदि भूतों के मिश्रण से चेतनता मानें तो जब अलग २ नहीं तो समूह में कैसे आ सकती है।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते सांख्य दर्शन भाषा भाष्ये पंचमाऽध्यायः समाप्तः।

---

## अथ षष्ठोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

सं०—पिछले अध्यायों में जीव ईश्वर प्रकृति उनके सम्बन्ध बन्ध और मोक्ष के कारण निरूपण करने के पश्चात् सब का संक्षेप से उपसंहार करते हैं ।

**अस्तयात्मा नास्तित्वसाधना भावात् ॥ १ ॥**

प० क्र०—आत्मा ( अपि ) है क्योंकि ( नास्तित्व साधनाभावात् उसके न होने का कोई साधन नहीं ।

भा०—जीवात्मा का आस्तित्व हीं आस्तिकत्व का मूल है मतः जीवात्मा के न होने में कोई हेतु नहीं इसीलिये जीवात्मा है ।

सं०—यदि जीवात्मा है तो उसमें क्या हेतु है ।

**देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥**

प० क्र०—( वैचित्र्यात् ) बिचित्रता से ( अपि ) जीवात्मा ( देहादिव्यतिरिक्त ) देह के भिन्न है ।

भा०—जीवात्मा के अस्तित्व में यह विचित्रता है कि उसके होने से ही देह में सौन्दर्य है उसके बिना भयानक है ।

सं—जीवात्मा के अस्तित्व में यह हेतु है।

**षष्ठीव्यपदेशादपि ॥ ३ ॥**

प० क्र०—( पष्टी व्यपदेशात् ) यह मेरा शरीर है इस कथन से ( अपि ) भी सिद्धि है।

भा०—ममता पाये जाने से उसका अस्तित्व है।

सं०—ऐसा तो और भी कहा जा सकता है।

**न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥ ४ ॥**

प० क्र०—( धर्मिग्राहक मान वाधात ) जीवात्मा उसके ग्रहण करने वाले जो प्रमाण उनके द्वारा मोण की हानि पाये जाने से ( शिलापुत्रवत ) पत्थर के बालक के सदृश षष्ठी कथन ( न ) नहीं है।

भा०—मैं सुखी हूँ। मैं दुखी हूँ इससे जीवात्मा का अस्तित्व निर्विवाद है।

सं०—जीवात्मा शरीर से भिन्न होने पर भी अविद्यादि क्लेशों से मुक्त ही रहेगा फिर मोक्ष कैसी !

**अत्यन्तदुःखनिवृत्या कृतकृत्यता ॥ ५ ॥**

प० क्र०—( अत्यन्त दुख निवृत्याः ) दुख की अत्यन्त निवृतिः से जीवात्मा को ( कृतकृत्यता ) मोक्ष मिलती है।

भा०—विवेक से दुख दूर हो जाते हैं फिर अविद्यादि क्लेश नहीं सताते यही कृत्यकृत्यता है।

सं०—लौकिक सुखों से भी लोग कृतकृत्य होते हैं फिर मुक्ति में क्या विशेषता है।

**यथादुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखाद भिलाषः ॥ ६ ॥**

प० क्र०—यथा, दुखात्, क्लेश, पुरुषस्य, न, तथा, सुखात् अभिलाषः।

भा०—जैसा पुरुष को दुख से क्लेश होता है वैसा सुख से आनन्द नहीं होता।

सं०—इसे स्पष्ट करते हैं।

**न कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥ ७ ॥**

प० क्र०—(कुत्र अपि) किसी समान भी (कः अपि) कोई प्रसन्न नहीं। (इति) अतः मुक्ति में विशेषता है।

भा०—लौकिक सुखों से कोई मनुष्य किसी भी अवस्था में सुखी नहीं हो सकता अतः मुक्ति में विशेषत्व है।

सं०—मुक्ति में और भी विशेषता है।

**तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥**

प० क्र०—(ततः अपि) वह लौकिक सुख भी (दुख शवलं) दुख के साथ मिश्रित (इति) अतः (विवेचका) विवेचन करने वाले उन सुखों को (दुखपक्षे) दुख की दशा में (निःक्षपन्ते) रखते हैं।

भा०—सुख को दुखवत् में रखे तो मुक्ति उस सुख का अभाव होने से पुरुष अर्थ न दे।

सं०—मुक्ति कितने प्रकार की है।

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात्॥९॥

प० क्र०—( सुखलाभाभावात् ) अपुरुषार्थत्वं, इति, चेत, न द्वैविध्यात्।

भा०—मुक्ति दो प्रकार से होने के कारण सुख स्वरूप न होने से पुरुष का अर्थ नहीं। यदि ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

सं०—जब जीवात्मा ज्ञान गुण युक्त है तो मुक्त में परमात्मा के आनन्द का भोक्ता होने से निर्गुण है।

निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः ॥ १० ॥

प० क्र०—निर्गुत्व, आत्मनः, असङ्गत्वादि श्रुतेः

भा०—आत्मा के असंगत्वादि धर्मों वाला सुने जाने से निर्गुण है।

सं०—बंधन तो प्रकृति का गुण है फिर वह बन्धन से पुरुष में बन्धन क्यों।

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥ ११ ॥

प० क्र०—परधर्मत्वे, अपि, तत्सिद्धिः अविवेकात्

भा०—अज्ञान से पराये धर्म से भी जीव के बन्धन की सिद्धि होती है।

सं०—जीव को असंग माना है फिर उसको अज्ञान का संग कैसे।

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥ १२ ॥

प० क्र०—अनादिः अविवेकः अन्यथा, दोष द्वय प्रसक्तेः

भा०—अविवेक अनादि है यदि ऐसा न माना जावे तो दो दोष आते हैं।

सं०—अनादि मानने से तो अविवेक नित्य होता है।

**ननित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥ १३**

प० क्र०—न, नित्यः, स्यात, आत्मवत् अन्यथा, अनुच्छितेः

भा०—अविवेक नित्य नहीं हो सकता क्योंकि उसको नित्य मानने से आत्मा की सदृश उसका नाश न होगा।

सं०—अविवेक के नाश का क्या कारण है।

**प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ १४ ॥**

प० क्र०—( ध्वान्तवत् ) अन्धकार के सदृश ( अस्य ) अविवेक ( प्रति नियत कारण नाश्यत्वं ) विवेक ज्ञान से उसका नाश होता है।

भा०—प्रकाश जिस प्रकार अन्धकार का नाश कर देता है इसी प्रकार विवेक के अविवेक के नाश का नियत कारण हैं।

सं०—अन्वय व्यतिरेक से अन्धकार को प्रकाश हटाता है।

**अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥ १५ ॥**

प० क्र०—( अत्र अपि ) अविवेक में भी ( प्रति नियमः ) नियम पूर्वक ( अन्वय व्यतिरेकात् ) अन्वय व्यतिरेक से नाश्यनाशक भाव है।

भा०—अन्वय व्यतिरेक प्रकाश जैसे अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार अज्ञान में भी अन्वय व्यतिरेक है।

भा०—मुक्ति अवस्था में यदि साधन करने पड़े तो बद्धावस्था से कोई भेद न रहे।

सं०—जिससे फिर लौट कर आना पड़े वह मोक्ष ही क्या हुई।

**मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥ २० ॥**

प० क्र०—(अन्तराय ध्वस्तेः) विघ्नों के नष्ट हो जाने पर ही मुक्ति है और कोई भिन्न मुक्ति नहीं। अन्तरायों के नाश को मुक्ति कहते हैं।

सं०—केवल विघ्नों का ही नाश मुक्ति है फिर यह वह तो व्यापकत्व कैसे ?

**तत्राप्यविरोधः ॥ २१ ॥**

प० क्र०—(तत्र) परमात्मानन्द का उपभोग (अपि) पर भी (अविरोधः कोई विरोध नहीं आता।

भा०—दुःखों की अत्यन्त निवृति और परमानन्द की प्राप्ति मुक्ति है।

भा०—मुक्ति साधन का अनुष्ठान सब को समान करना चाहिये न कि न्यूनाधिकार।

**अधिकारित्रैविध्यनन नियमः ॥ २२ ॥**

प० क्र०—अधिकारी त्रैविध्यात्, न, नियमः

भा०—अधिकारी भेद से एक प्रकार के अनुष्ठान का नियम नहीं है क्योंकि किसी को श्रवण से किसी को मनन से ज्ञान होना सम्भव है।

स०—यदि उत्तम अधिकारी मनन कर्म न करे तो

**दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥२३ ॥**

प क्र०— (दार्ढ्यार्थम्) दृढ़ता के लिये (उत्तरेषां) श्रवण मनन अनुष्ठान उत्तम को भी कर्त्तव्य है.

भा०—उत्तम अधिकारी को भी श्रवण मनन दृढ़ता के लिये करते रहना चाहिये ।

स०—क्या कोई इनके आसन हैं ।

**स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥ २४ ॥**

प० क्र०—स्थिर सुख,आसने, इति, न, नियमः) ।

भा०—जिससे अच्छी प्रकार स्थित हो सके और सुखदायक हो वही आसन है किसी आसन विशेष का नियम नहीं ।

स०—ध्यान किसे कहते हैं।

**ध्यानं निर्विषय मनः ॥२५ ॥**

प० क्र०—ध्यान, निर्विषयं,मनः ।

भा०—मन का विषयों से रहित होना ही ध्यान है ।

सं०—क्या विक्षेपो वाला पुरुष ध्यान कर सकता है ।

**उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥२६॥**

प० क्र०—उभयता, आदि, अविशेषः चेत, नएवं, उपराग विरोधात् विशेषः ।

भा०—दोनों प्रकार से भी यदि कहा जाय तो भी कोई भेद नहीं तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि विक्षेपों से चित्त की

विरुद्धा वस्था नहीं हो सक्ती।

सं०—निर्विकार पुरुष में विक्षेप विकार कैसा।

निःसंगेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥ २७ ॥

प क्र० —निः संगे, अपि, उपरागः, अविवेकात्।,

भा०—अज्ञान से असन्त पुरुष भी विक्षेपों से सम्बन्ध पाता है

सं०—सन्निधिष्ट यदि विक्षेप हो तो भी पुरुष अविकारी ही है

जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥२८ ॥

प० क्र०—जपा स्फटिकयोः, इव, न, उपराग, किन्तु अभिमानः

भा०—गुडहल का पुष्प और बिल्लौर के सदृश प्राकृत धर्म पुरुष में प्रतिबम्बित नहीं होते किन्तु उनका अभिमान आरोपित होता है।

सं०—विक्षेप विघ्न कैसे दूर हो।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ २९ ॥

प० क्र०—ध्यानधारणाभ्यास वैराग्यादिभिः, तत् विरोधाः।

भा०—परमात्म स्वरूप चिन्तन, नाभि चक्र में चित्त को स्थापन करना, ईश्वरभक्ति, वैराग्य आदि से विक्षेप का विरोध होता है।

सं०—परम्परा से विरोध होता है या साक्षात्।

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ॥ ३० ॥

प० क्र०—लय विक्षेपयोः, व्यावृत्या, इति, आचार्याः।

भा०—सांख्याचार्य मानते हैं कि निद्रादि विक्षेप की निवृत्ति से वृत्ति का विरोध हो जाता है।

सं०—ध्यान कहीं तीर्थ में करें।

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥ ३१

प० क्र०—न, स्थान नियमः, चित्तप्रसादात्।

भा० —चित्त की प्रसन्नता पाये जाने से किसी स्थान विशेष का नियम ध्यान के लिये नहीं है।

सं०—अभिमान का मूल कारण क्या है?

प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्व श्रुतेः ॥ ३२ ॥

प० क्र०—प्रवृत्तेः, आद्योपादानता, अन्येषां, तत्कार्यत्व श्रुतेः।

भा०—आदि उपादानता से प्रकृति की है उसी से पुरुष में वासनाओं का अभिमान होता है यह तत्व इसमें मुख्य कारण नहीं।

सं०—आत्मा भी तो अनादि है उसी को मुख्य कारण क्यों न माना जावे।

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योगत्वाभावात् ॥ ३३ ॥

प० क्र०—नित्यत्वे, अपि, न, आत्मनः, योग्यत्वा भावात्।

भा०—आत्मा में वन्धन का हेतु उपराग की योग्यता के अभाव में नित्य होने पर भी मुख्य कारण नहीं।

सं०—अविद्यायुक्त आत्मा वन्धन की योग्यता वाला हो सकता है।

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥ ३४ ॥

प० क्र०—श्रुति विरोधात्, न, कुतर्कापसदस्य, आत्मलम्भः।

भा०—श्रुति के विरोध से वेदविरोधी तर्क द्वारा दूषित पुरुष को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

सं०—प्रकृति किस प्रकार मूलकारण है ?

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५ ॥

प० क्र०—परम्पर्ये, अपि, प्रधानानुवृत्ति, अणुवत्।

भा०—परमाणु सदृश, प्रकृतिध्यादि का साक्षात् कारण न होने पर प्रकृति की ही धारणा को अनुवृत्ति होती है।

सं०—गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति तो सूक्ष्म है वह इतने ब्रह्माण्डों का कारण नहीं हो सकती।

सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ॥ ३६ ॥

प० क्र०—सर्वत्र, कार्यदर्शनात् विभुत्वम्।

भा०—सब स्थानों में कार्य देखे जाने से प्रकृति सब स्थानों में है।

सं०—प्रकृति का तो नाश हो जाता है।

गतियोगेप्याद्यकारणताहानिरणुवत् ॥ ३७ ॥

प० क्र०—गति योगे, अपि, आद्यकारणताहानिः अणुवत्।

भा०—परमाणुओं के सदृश, प्रकृति में क्रिया मानने से उसके उपादान कारण की हानि है।

सं०—प्रकृति भी क्या नियत कार्यों की भांति कार्यों के प्रति कारण है।

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥ ३८ ॥

प० क्र०—( प्रसिद्धाधिक्यं ) प्रधानस्य, न, नियमः

भा० | प्रकृति की पृथिव्यादि प्रसिद्ध पदार्थों की वाहुल्यता
प्रकृति में नियत कार्य का नियम नहीं ।

सं०—प्रकृति सत्वादि धर्मों के कारण तीन प्रकार का है एक नहीं

**सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥ ३९ ॥**

प० क्र०—सत्वादीनां अतद्धर्मत्वं, तद्र पात

भा०—प्रकृति स्वरूप होने से सत्वादि गुण प्रकृति के धर्म नह
हो सकते ।

सं०—प्रकृति तो जड़ है उसे सृष्टि रचना में क्या लाभ ।

**अनुषभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुम वहन
वत् ॥ ४० ॥**

प० क्र०—अनुप भोगे, अपि, प्रमर्थं, सृष्टि प्रधानस्य, उष्ट्र कुंकु
वहनवत् ।

भा०—ऊँट पर लाद कर जैसे केसर देशान्तर में अन्य मनुष्यों
हित के लिये ले जाई जाती है इसी प्रकार प्रकृति-स्वाम
लोकोपकार के लिये सृष्टि रचना करता है ।

सं०—एक ही प्रकृति के कार्य ब्रह्माण्ड में विचित्रता क्यों ।

**कर्मवैचित्र्यात् सृष्टवैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥**

प० क्र०—कर्म वैचित्र्यात, सृष्टि वैचित्र्यम् ।

भा०—कर्मों की विचित्रता से सृष्टि में विचित्रता है ।

सं०—एक ही प्रकृति में प्रलय और सृष्टि दो विरोधी धर्म कैसे ।

**साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥ ४२ ॥**

प० क्र० —साम्य वैषम्यांत, कार्य द्वयम् ।

भा०—सम और विषम परिणाम से उत्पत्ति तथा प्रलय दोनों कार्य है ।

सं०—किस समय प्रकृति पुरुष के लिये सृष्टि रचना नहीं करती ।

**विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥ ४३ ॥**

प० क्र०—( विमुक्त बोधात् ) न, सृष्टिः प्रधानस्य, लोकवत् ।

भा०—लोक के सामने, जब पुरुष को प्रकृति पुरुष का बोध हो जाता है तब प्रकृति की सृष्टि नहीं होती ।

सं०—बद्ध पुरुषों के लिये प्रकृति में सृष्टि रचना रहै तो मुक्तों के लिये क्यों नहीं ।

**नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ॥४४॥**

प० क्र०—न, अन्योप सर्पणे, अपि, मुक्तोप भोगः निमित्ताभावात् ।

भा०—किसी निमित्त के न होने से बद्ध पुरुषों के लिये क्रिया होने से भी मुक्तों के लिये भोग नहीं ।

सं०—जो एक ही आत्मा मानते हैं वह बन्धन में यदि आ जावे तो सब अन्य भी बंधन में आ सकते हैं ।

**पुरुष बहुत्वं व्यवस्थातः ॥ ४५ ॥**

प० क्र०—पुरुष बहुत्वं, व्यवस्थातः

भा०—व्यवस्था से अनेक पाये जाने से जीवात्मा रूप पुरुष अनेक हैं ।

सं०—जीवात्मा एक मानकर उपाधि भेद से दुख सुख की व्यवस्था है ।

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ।। ४६ ।।

प० क्र०—उपाधिः चेत, तत्सिद्धौ, पुनः, द्वैतम ।

भा०—यदि पूर्वोक्त सुख दुख की सिद्धि के लिये उपाधि मानी जावे तो फिर द्वैतवाद का दोष आवेगा ।

सं०—उपाधि तो अविद्यता है वस्तुतः कुछ नहीं फिर उससे द्वैतता कैसी ।

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ।। ४७ ।।

प० क्र०—द्वाभ्यां अपि, प्रमाण बिरोधात् ।

भा०—अविद्या और पुरुष के मानने से एकत्व के साधक प्रमाणों में विरोध आवेगा ।

सं०—प्रकृति पुरुष का भेद तो अविद्या कृत है ।

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात ४८

प० क्र०—द्वाभ्यां, अपि, अविरोधात्, न, पूर्व, उत्तरम् च, साधका भावात् ।

भा०—प्रकृति पुरुष मान लेने पर भी कोई विरोध न आवेगा परन्तु उपाधि कृत भेद न मानना पुरुष एक मात्र है है उसका साधक प्रमाण नहीं मिलने से ठीक नहीं ।

सं०—आत्मा स्वतः प्रमाण है फिर प्रमाणान्तर मानने से क्या ।

प्रकाशतस्ततसिद्धौ कर्मकर्तृ विरोधः ।। ४९ ।।

प० क्र०—प्रकाशते–तत्सिद्धौ, कर्म कर्तृ विरोधः

भा०—अपने प्रकाश से अद्वैत की सिद्धि मानने पर कर्म और कर्त्ता का विरोध आवेगा ।

सं०—चिद्रूप जीवात्मा अपने आपका प्रकाश कैसे।

जड़व्यावृत्तो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ ५० ॥

प० क्र०—जड़व्यावृत्त, जड़ोप्रकाशभति, चिद्रूपं।

भा०—चेतन स्वरूप जीवात्मा जड़ से भिन्न है जड़ को प्रकाशित करती है।

सं०—यदि अद्वैत न मानो तो श्रुतियों से विरोध आवेगा।

। न श्रुतिविरधो रागिणां राग्याय तत सिः ५१।

प० क्र०—न, श्रुति विरोधः रागिणां. वैराग्याय तत्सिद्धेः

भा०—रागी पुरुषों के वैराग्य के हेतु श्रुति की सिद्धि पाये जाने से श्रुतियों का विरोध नहीं।

सं०—जगत को यदि सत्य माने तो यह कल्पना वैराग्य के अभिप्राय से हो सकती है। अन्यथा नहीं।

जगंतसयवमदुष्टकारणाजय वादबाधकाभावात् ५२

प० क्र०—जगत्सत्यत्वं, अदुष्ट कारण जन्मत्वात्, बाधकाभावान्

भा०—किसी रुकावट डालने वाले ज्ञान के न होने से और किसी दोषयुक्त कारण के भी न होने से जगत सत्य है।

सं०—जगत यदि सत्य है तो उसकी उत्पत्ति कैसे होती है।

कारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः ॥५३ ॥

प० क्र०—प्रकारान्तरा संभवात्, सदुत्पत्तिः

भा०—कोई अन्य प्रकार न बन सकने से सत की ही उत्पत्ति होती है।

सं०—यदि कार्य सत् है तो पुरुष घट पर करता है यह प्रतीति क्यों है।

**अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ ५४ ॥**

प० क्र०—अहंकारः कर्ता न, पुरुषः

भा०—अहंकार ही कर्त्ता है पुरुष नहीं।

सं०—पुरुष का इस प्रकार तो भोक्तृत्व भी न प्रमारि

**चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ॥ ५५ ॥**

प० क्र०—चिदबसाना, भुक्ति, तत्कर्माजितत्वात्

भा०—अहंकार विशिष्ट जीव के कर्मों से भोग अहंकार विशिष्ट चेतन को होता है।

सं०—पुरुष भोग इसी भूमण्डल पर भोगता है अथवा अन्यत्र भी कहीं जाता है।

**चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात ॥५६॥**

प० क्र०—चन्द्रादि लोके, अपि, आवृत्तिः निमित्त सद्भावात्

भा०—निमित्त पाये जाने चन्द्रादि लोकों में भी पुनर्जन्म होता है।

सं०—उन लोकों में मुक्ति साधन अनुष्ठान करना होता है या नहीं

**लोकस्य नोपदेशात सिद्धः पूर्ववत ॥५७॥**

प० क्र०—लोकस्य, न, उपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत्

भा०—पूर्व लोकों के सदृश चन्द्रलोक के सम्बन्ध वाले को उपदेश यात्रा से मुक्ति की सिद्धि नहीं होती।

सं०—मुक्ति की सिद्धि फिर कैसे ?

## पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥५८॥

प० क्र०—पारम्पर्येण, तत्सिद्धौ, विमुक्ति श्रुतिः।

भा०—श्रवण, मनन द्वारा विवेक ज्ञान सिद्ध होने पर यहां मुक्ति का श्रवण पाया जाता है।

सं०—अब जीव का विभुवाद का पूर्व पक्ष करते हैं।

## गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोग देश काललाभो व्योमवत् ॥५९॥

प० क्र०—गतिश्रुतेः, च, व्यापकत्वे, अपि, उपाधियोगात् भोग देश काल लाभः व्योमवत्।

भा—आकाश सदृश जीव के व्यापक होने का और उपाधि कारण गति मिलने से भी जीव को भोग देश तथा काल का लाभ है।

सं०—जीव में भी क्या उपाधि भेद से गति है विभु जीव लिंग शरीर की उपाधि से देशदेशान्तरों में जन्म धारण कर सकता है।

## अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ॥६०॥

प० क्र०—अनधिष्ठितस्य।

भा०—जीव के अधिष्ठाता न होने से जो जीव की शरीर का सड़ गल जाना कथन किये जाने से उससे जीव के विभु होने की सिद्धि नहीं होती।

सं०—एक का सुख दुख दूसरों को नहीं होता इस से जीव भिन्न नहीं है।

**अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादिवदंकुरे ॥६१॥**

प० क्र०—अदृष्ट द्वारा, चेत, असम्बद्धस्य, तत, असंभवात् जलादिवत् अंकुरे।

भा०—अदृष्टों से जहां जिसका सम्बन्ध नहीं वहां सुख दुख का अनुभव उसको नहीं होता यदि ऐसा माने तो ठीक नहीं क्योंकि अंकुर में अवादि के समान नियम होने चाहियें।

सं०—निर्गुण आत्मा में अदृष्टों का क्या सम्बन्ध ?

**निर्गुणत्वात तदसम्भवादहंकारधर्मा ह्येते ॥६२॥**

प० क्र०—निर्गुणत्वात, तत, असम्भवात, अहंकार धर्माहि, ते।

भा०—जीवात्मा के निर्गुण होनेसे उस सम्बन्ध से असम्भव होने के कारण वह अदृष्ट निश्चय करके अहंकार के धर्म हैं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात ॥६३॥**

प० क्र०—विशिष्टस्य, जीवत्वं, अन्वय व्यतिरेकात्।

भा०—लिंग शरीर के साथ जीव धर्मयुक्त गति पाये जाने से अथवा अन्यथा न पाये जाने से जीव अहंकार विशिस्ट है।

सं०—परमात्मा तो विभु है उसके एक देश में कार्य क्यों होना चाहिये सब में क्यों नहीं ?

## अहंकार कर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ६४

प० क्र०—अहंकार कर्त्रधीनाः, कार्यसिद्धि अहंकार के कर्त्ता प्रधान के पास है ईश्वर के आधीन नहीं तो किसी प्रमाण के ना पाये जाने से।

भा०—यह कहा है कि यह समस्त विश्व उसके एक देश में है और तीन पाद अमृत हैं अतः ईश्वर सर्वदेशी है।

सं०—पुनः इसी विषय में कहते हैं।

## अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ॥६५॥

प० क्र०—अदृष्टोद्भूतिवत, समानत्वम्।

भा—जीव के एक देश में अदृष्टों की उत्पत्ति के समान ईश्वर के एक देश में जगत रचना होनी समान है।

सं०—सृष्टिक्रम को कहते हैं।

## महतोऽन्यत् ६६॥

प० क्र०—महतः, अन्यत्।

भा—महतत्त्व से अहंकारादि कार्य उत्पन्न होते हैं।

सं०—ग्रन्थ का निरूपण करते हुये शास्त्र का उपसंहार करते हैं।

**कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्य-नादिर्बीजांकुरवत् ॥६७॥**

प० क०—कर्म निमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभाव, अपि, अन बीजांकुरवत्

भा०—बीज और अंकुर के समान प्रकृति का स्वस्वा सम्बन्ध कर्म रूपी निमित्त लिये हुये अनादि है।

सं०—पंच शिखाचार्य का मत दिखाते हैं।

**अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥६८॥**

प० क०—अविवेक निमितः वा पंच शिखः

भा०—बन्धरूप प्रकृति पुरुष का संयोग अज्ञान रूपी निमि से है।

सं०—पुनः सनन्दनाचार्य का मत दर्शाते है।

**लिंगशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ।६९**

प० क०—लिङ्ग शरीर निमित्तकः इति सनन्दनाचार्यः

भा०—सनन्दनाचार्य का मन्तव्य है कि लिङ्ग—शरीर के निमि से यह योग होता है।

सं—किसी भी कारण से क्यों न सही। प्रकृति पुरुष के स्व स्वामीभाव रूप संयोग के दूर होने से परमपुरुषा प्राप्त होता है।

॥ अथ सांख्य दर्शनम् ॥

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदु

च्छित्तिः पुरुषार्थः ॥७०॥

पदा०—यत्, वा, यत, वा । तत् उच्छित्ति पुरुष,

—जिस किसी कारण से बन्ध हो उसकी निवृत्ति ही

पार्थ है ।

उनइस सौ चौरानवें, अगहन शुक्ल समास ।
पूरनिमा तिथि शुक्र दिन, कियो भाष्य पर गास ॥

इति श्री पं० चन्द्रिकाप्रसादात्मज पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते
सांख्य दर्शन भाषाभाष्ये षष्ठाध्यायः समाप्तः
समाप्तश्चायं ग्रन्थः शिवोऽस्तु ।

मुद्रक—ठाकुर मोतीसिंह वर्मा मोती प्रेस बेलनगंज आगरा ।